प्रह्लाद

(आधुनिक हिन्दी के युग-निर्माता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की १२५वीं जयन्ती पर प्रकाशित)

सम्पादक
डा० विष्णुदत्त राकेश
एम०ए०, पी-एच० डी०, डी०लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

सयुक्त-सम्पादक
डा० विनोदचन्द्र सिन्हा
एम०ए०, पी-एच०डी०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास, सस्कृति एव पुरातत्त्व विभाग

जनवरी, १९९०

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

संरक्षक
प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं उप-कुलपति

प्रकाशक
डा० वीरेन्द्र अरोड़ा
कुलसचिव

व्यवस्थापक
जगदीश विद्यालंकार
पुस्तकालयाध्यक्ष

मुद्रक
जैना प्रिंटर्स
ज्वालापुर

विषय सूची

वैदिक-वन्दना

ॐ समानी प्रपा सहवोऽन्न भागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित ॥

अथर्व० ३ ३०.६

हो पनघट के स्रोत हमारे सबके लिए समान।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रजन,
कर्माश्रित है वर्ण विभाजन,

एक पिता के पुत्र सभी हम, एक हृदय, मन, प्राण ॥

द्वेषरहित हो प्राणी सारे,
एकसाथ हो भोज हमारे,

प्रेम डोर मे बँधे परस्पर त्याग व्यर्थ अभिमान ॥

सभी मनुज है भाई-भाई,
भाषा, धर्म, रग की खाई,

बने न कभी आत्म उन्नति मे जाति-पाँति व्यवधान ॥

करे कुण्ड मे अग्नि प्रज्ज्वलित,
जैसे अरे नाभि मे केन्द्रित,

करते हो अविरुद्ध आचरण वेदव्रती विद्वान् ॥

वित्त, वेद, सुख-साधन सबके,
सफल यत्न हो राष्ट्र यजन के,

शोषणमुक्त स्वतत्र देश का जीवन बने महान।
श्रेष्ठ प्रथाएँ लेकर जाएँ पितृमान सतान ॥

—डा० विष्णुदत्त राकेश

हिन्दी के युग-निर्माता आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी

— डा० विष्णुदत्त राकेश

आचार्य द्विवेदी को दिवगत हुए ५० वर्ष हो गए। २१ दिसम्बर १९३८ ई० को रायबरेली मे उनका निधन हुआ और उसी दिन उनके जन्मस्थान दौलतपुर मे दिन के तीसरे पहर उनका दाहकर्म सस्कार हुआ। प्रातीय असेम्बली मे शोक प्रस्ताव पारित हुआ तथा प्रयाग विश्वविद्यालय ने अवकाश घोषित कर हिन्दी के युग निर्माता आचार्य को श्रद्धाजलि अर्पित की। हिन्दी की सभी पत्र-पत्रिकाओ ने श्रद्धासुमन अर्पित किए। आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास मे लिखा–'व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। गद्य की भाषा पर द्विवेदी जी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण, जब तक भाषा के लिए शुद्धता आवश्यक समझी जाएगी तब तक बना रहेगा।' द्विवेदी जी के प्रति हिन्दी-ससार इतना श्रद्धालु था कि २ मई १९३३ को नागरी प्रचारिणी सभा ने एक भव्य समारोह कर उन्हे अभिनन्दन ग्रन्थ भेट किया। इस ग्रन्थ का सम्पादन डा० श्यामसुन्दर दास और श्री रायकृष्ण दास ने किया था। उसी समय प्रयाग मे देश भर के हिन्दीप्रेमियो ने द्विवेदी मेला लगाया। इस अवसर पर आयोजित सम्मान-समारोह की अध्यक्षता महामहोपाध्याय डा० गगानाथ झा कुलपति प्रयाग विश्वविद्यालय ने की थी। डा० झा ने अध्यक्ष पद से उठकर जब द्विवेदी जी के चरण स्पर्श किए तथा उन्हे अपने हिन्दी लेखन का पथ प्रदर्शक स्वीकार किया तो हिन्दी सेवीजन भावविभोर हो गए। द्विवेदी जी ने न केवल डा० गगानाथ झा अपितु श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल तथा मैथिलीशरण गुप्त जैसे प्रतिष्ठित हिन्दी लेखको की हिन्दी भी शुद्ध की थी।

द्विवेदी जी का जन्म जिला रायबरेली के गाँव दौलतपुर मे १५ मई १८६४ ई० को हुआ था। यह गाँव रीतिकाव्य के सुप्रसिद्ध आचार्य सुखदेव मिश्र की कर्मस्थली रहा है। द्विवेदी जी के पिता ईस्ट इन्डिया कम्पनी की एक पलटन मे सिपाही थे तथा गदर मे बागी हो गये थे। पजाब के होशियारपुर मे तैनात विद्रोही पलटन से भागकर वह उमडती सतलज मे कूद पडे और फिर साधु के वेश मे बम्बई जाकर एक देवस्थान मे सेवापूजा करने लगे। अग्रेजी सरकार के दमनकारी रवैये से क्षुब्ध होकर तथा अपने साथियो के तोप द्वारा उडा दिए जाने पर उन्होने क्रान्ति के जो स्वर देखे-सुने, उन्हे मद नही पड़ने दिया। द्विवेदी जी पर इस घटना का गहरा प्रभाव पडा।

द्विवेदी जी संस्कृत, हिन्दी और फारसी के जानकार थे। पुरवा, फतेहपुर तथा उन्नाव के स्कूलो मे उन्होंने चार साल अंग्रेजी पढी और अंग्रेजी का कामचलाऊ ज्ञान प्रा त कर रेलवे मे नौकरी कर ली। फिर तारवर्की का काम सीख कर वह जी०आई० पी० रेलवे में तारबाबू हो गए। समय की पाबदी, कार्यगत निष्ठा, ज्ञानवृद्धि के लिए सतत् स्वाध्याय तथा रिश्वत न लेना उनके चार मुख्य सिद्धान्त थे जिनका उन्होने आजन्म पालन किया। स्वाभिमान की पराकाष्ठा इतनी कि अंग्रेज अफसर के दबाव डालने पर त्यागपत्र दे दिया। सरकारी नौकरी को लात मार दी। पत्नी ने सहयोग दिया और गरीबी का स्वेच्छयावरण करके भी सम्मान की रक्षा की। द्विवेदी जी इसी कारण अपनी पत्नी के प्रति भावुकता और आदर का भाव रखते थे।

भारतेन्दु का निधन १८८५ ई० मे हुआ। उनका हिन्दी प्रचार का व्रत २१ वर्ष के द्विवेदी जी के सामने था। भारतेन्दु द्वारा सम्पादित 'कविवचन सुधा' का उन्होने आकठपान किया तथा राधाचरण गोस्वामी द्वारा सम्पादित 'भारतेन्दु' उनके विचार-क्षितिज मे उदित होकर उन्हे नित्य प्रेरणा देता रहा। उनका साहित्यिक जीवन काव्य रचना से शुरु हुआ। सर्वप्रथम उन्होने पुष्पदन्ताचार्यकृत महिम्नस्तोत्र का गणात्मक छन्दो मे अनुवाद किया जो १८६१ मे प्रकाशित हुआ। भर्तृहरि के वैराग्यशतक का विनयविनोद तथा शृंगार शतक का स्नेहमाला नाम से हिन्दी दोहो मे अनुवाद क्रमश १८८६, १८६० मे प्रकाशित कराया। इसी वर्ष मिले-जुले छन्दो मे जयदेव कृत गीत गोविन्द का विहार-वाटिका नाम से अनुवाद प्रकाशित हुआ। पण्डितराज जगन्नाथ कृत गगा लहरी का सवैया छन्द मे तथा कालिदास कृत ऋतु सहार का वर्णिक छन्दो मे अनुवाद ऋतु तरगिणी के नाम से किया। एक मौलिक रचना भी देवीस्तुति शतक नाम से प्रकाशित हुई। ये सभी रचनाएँ ब्रज-भाषा मे थी। इनमे विनय विनोद, स्नेह माला तथा गगालहरी छन्द और भाषा दोनो ही दृष्टियो से कसी हुई रचनाएँ हैं। खडी बोली मे उनकी महत्वपूर्ण अनूदित रचना कुमारसम्भवसार है। यह सफल अनुवाद है। प्रमाणस्वरूप एक छन्द यहाँ उद्धृत है।

> गेरू से लिख भोजपत्र पर जहाँ अनगदेव सदेश,
> विद्याधर सुदरी भेजती हैं प्रिय पास विशेष विशेष।
> जहाँ रात मे विपिन निवासी, ओषधियाँ रख दीप समान,
> करते हैं उनके प्रकाश मे केलिकला के विविध विधान।

उनकी मौलिक कविताओ मे पराधीन भारत की विपन्नता के अनेक हृदयद्रावक चित्र हैं। भारतेन्दुयुगीन कवियो ने अकाल, महामारी, सम्प्रदायवाद, छुआछूत, टैक्स और करो का भार, शोषण और दमन के अनेक ऐसे चित्र हिन्दी कविता को दिए, उसी परम्परा मे द्विवेदी जी भी खडे हुए। तिलक-दहेज, नारी जीवन और सामाजिक दुर्दशा का चित्रण भी उन्होने कसकर किया। भारत दुर्भिक्ष कविता की चार पक्तियाँ लीजिए–

गली-गली कगाल पेट पर हाथ दोउ धरि धावैं।
अन्न-अन्न, पानी-पानी कहि शोर प्रचड मचावैं ॥
बालक, जुवा, जरठ, नारी, नर भूख-भूख कहि गावैं।
अविरल अश्रु धार आँखिन ते बारबार बहावैं ॥

इसी प्रकार 'स्वदेशी' कविता को देखा जा सकता है —

विदेशी वस्त्र क्यो हम ले रहे हैं?
वृथा धन देश का क्यो दे रहे हैं?
न सूझे है अरे भारत भिखारी।
गई है हाय तेरी बुद्धि मारी।
हजारो लोग भूखो मर रहे है।
पडे वे आज या कल कर रहे हैं।
इधर तू मजु मलमल ढूँढता है।
न इस से और बढकर मूढता है।

द्विवेदी जी ने गाँव मे रहकर निर्धन और त्रस्त जीवन का दर्शन किया था। खुद किसान थे और किसानो की दुर्दशा का अनुभव किया था। द्विवेदी जी ने हिन्दीभाषी जनता को सामती तथा औपनिवेशिक बधनो से मुक्त कर जनवादी स्वाधीन व्यवस्था का परिचय दिया। तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण कर नवजागरण का लक्ष्य समझाया। अग्रेजो ने भूमि व्यवस्था के नये नियम बनाकर, भारत की परम्परागत भूमि व्यवस्था को तोडकर तथा किसानो से लगान वसूलने वाले जमीदारो को भूमि का स्वामी बना कर एव स्वामित्व के अधिकार को पैतृक तथा हस्तातरणीय बनाकर किसानो की दुर्दशा का द्वार खोल दिया। इसके विरोध मे १९०८ मे द्विवेदी जी ने 'सम्पत्ति शास्त्र' पुस्तक की रचना की। जमीदारी प्रथा, किसानो की लूट, महाजनी सभ्यता और सूदखोरी की बदो-तरी तथा भुखमरी का चित्रण किया। भारतीय व्यापार और उद्योगो की सभावनाओ पर प्रकाश डाला। ब्रिटेन की व्यापारिक नीति का अनौचित्य द्विवेदी जी ने ही प्रतिपादित किया। सरस्वती (१९१५) मे ईश्वरदास मारवाडी का लेख 'भारतीय किसानो के उद्धार के उपाय' तथा १९१८ के अक मे गगाधर पत के लेख 'अवध के जमीदार और काश्तकार' छापकर उन्होने अग्रेजीराज की शोषणव्यवस्था पर प्रहार किया। स्वय द्विवेदी जी ने 'किसानो का सगठन' लेख लिख कर यह घोषित किया कि किसान देश की सबसे बडी शक्ति है और यदि कृषको से लगान मिलना बन्द हो जाए तो बडे-बडे राजा-महाराजाओ और ताअल्लुकेदारो की दुर्गति का ठिकाना न रहे। सरकार के शासनचक्र का चलना बद हो जाए, वकीलो और बैरिस्टरो के गाडी घोडे बिक जाएँ और व्यापारियो तथा महाजनो को शीघ्र ही टाट उलटना पडे। १९१५ की ही सरस्वती मे खेती की बुरी दशा शीर्षक लेख मे द्विवेदी जी ने लिखा कि इन जमीदारो का जमीन पर क्या हक है कुछ समझ मे नहीं आता। बीच मे इन्हे डालकर क्यो गवर्नमेंट इनका घर भरती और काश्तकारो

का मुनाफा कम करती है। द्विवेदी जी जानते थे कि १८५७ मे अंग्रेजी सरकार को उखाडने के लिए किसानो ने ही कमर कसी थी और अब जब किसान अपने हक के लिए लडेंगे तो आजादी का रास्ता साफ होगा। नवचेतना के सवाहक द्विवेदी जी ने हिन्दीभाषी जनता को नई सोच और दिशा दी। वह नवचेतनावादी इसलिए थे कि गृह उद्योग के प्राचीन सामती तरीको मे उनका विश्वास न था, वह श्रम विभाग, श्रम-सयोग के आधार पर मशीनो से होने वाले उत्पादन की व्यवस्था को तरजीह देते थे। अपने देश के कारखानो मे, अपनी मशीने, अपने मजदूर यदि अपना माल तैयार करेंगे तो देश की सम्पत्ति बढेगी। पर इसके लिए मजदूरो का सगठन भी होना चाहिए, अन्यथा उसके वाजिब हक प्राप्त न हो सकेंगे। डा० नवलकिशोर नवल ने ठीक ही लिखा है कि 'द्विवेदी जी ने हिन्दीभाषी प्रदेश मे आधुनिक विचारधारा का प्रसार किया। तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था का गभीर विश्लेषण कर उन्होने किसानो और मजदूरो को अपने अधिकारो की प्राप्ति के लिए जमीदारो और पूजीपतियो के विरुद्ध सघर्ष करने की प्रेरणा दी। इसके साथ ही उन्होने ज्ञान और सस्कृति के क्षेत्र मे रुढिवाद का विरोध किया और वैज्ञानिक प्रगति के कारण जो नई सच्चाइया ससार के सम्मुख प्रकट हुई थी, उनसे लोगो को परिचित कराने मे अपने लेखन और सम्पादन को लगा दिया। वे वैज्ञानिक चिन्तन के पक्षपाती थे, इसलिए उन्होने न पुनरुत्थानवाद का अधसमर्थन किया, न पश्चिम का अधानुकरण करने वालो की तरह अपनी परम्परा की उपेक्षा की। भारत के अतीत को उन्होंने आलोचनात्मक दृष्टि से देखा और उसमे जो कुछ मूल्यवान् था, उसे स्वीकार किया। इस क्षेत्र मे उनकी उल्लेखनीय विशेषता अपने देश की भौतिकवादी चिंतन परम्परा का अनुसधान है। द्विवेदी जी के शिष्य आचार्य पण्डित किशोरीदास वाजपेयी ने अपने सुदामा नाटक के मगलाचरण मे द्विवेदी जी के 'किसान-मजदूर' उद्घोष को इन शब्दो मे प्रस्तुत किया —

हलधर सग गोपाल ने कियो कस मद चूर।
मनो कह्यो सासक जगत हैं किसान मजदूर॥

यही दोहा तरगिणी मे सकलित हुआ। ब्रजभाषा काव्य मे यह नवीन प्रवृत्ति आचार्य द्विवेदी की नवचेतना का ही प्रतिफलन कही जा सकती है। डा० रामविलास शर्मा जी ने 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी जागरण' ग्रन्थ मे सर्वप्रथम हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया।

जैसा कि कहा जा चुका है कि कालिदास का अनुवाद कर वह तत्कालीन अनुवादको को अनुवाद का मानक रूप बताना चाहते थे। उन दिनो लाला सीताराम बी०ए० ने कुमारसभव का अनुवाद किया था। ऋतुसहार, मेघदूत और रघुवश का अनुवाद भी किया था। द्विवेदी जी ने कुमारसभव के अनुवाद की त्रुटियो का प्रकाशन १८९६ की काशी पत्रिका तथा ऋतु सहार की आलोचना १८९७ मे वेंकटेश्वर समाचार मे छपवाई। इन आलोचनाओ से हिन्दी जगत् मे तहलका मच गया। इसके बाद १९०१ मे लालाजी के अनुवादो को लेकर 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' ग्रन्थ लिखा

और फिर लार्ड बेकन के छतीस निबन्धो का हिन्दी मे अनुवाद प्रस्तुत किया। १६०० मे ही नैषधचरित चर्चा पुस्तक लिखी।

इसकी आलोचना काशी से प्रकाशित होने वाले 'सुदर्शन' पत्र मे उसके सम्पादक प० माधवप्रसाद मिश्र ने लिखी और इसका करारा उत्तर द्विवेदी जी ने सरस्वती के दो अको मे विस्तार के साथ दिया। पण्डित बदरीनारायण चौधरी, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित बालकृष्ण भट्ट और पण्डित श्रीधर पाठक द्विवेदी जी से प्रभावित हुए। पण्डित पद्मसिंह शर्मा तो उनके कट्टर समर्थक ही थे।

द्विवेदी जी के पास सरस्वती का बल था। १६०३–१६०४ मे झासी रहकर उन्होंने सरस्वती का सम्पादन किया और १६०५ से नौकरी छोडकर वह कानपुर के जुही स्थान से सरस्वती का सम्पादन करने लगे। द्विवेदी जी दृढ व्यक्ति थे। लोभ और भय से सिद्धान्तो के सामने वह कभी नही झुके। एक बार १६०४ की सरस्वती मे उन्होने बाबू श्यामसुन्दर दास की खोज रिपोर्ट सकलन की आलोचना की तो सभा के अधिकारी नाराज हो गये। सरस्वती से उन्होने अनुमोदन वापिस ले लिया। द्विवेदी जी ने इस विष-घूंट को प्रसन्नता के साथ पी लिया। सरस्वती के प्रकाशक घोष बाबू ने द्विवेदी जी का साथ दिया। १६०३ से १६०६ तक द्विवेदी जी ने सरस्वती का सम्पादन मनोयोग और आचार्य के दायित्व के साथ किया। नये प्रतिभाशील लेखको को तैयार किया। हिन्दी गद्य का रूप परिमार्जित किया। साहित्येतर विषयो पर हिन्दी मे लेख लिखकर उसे वैज्ञानिक चेतना प्रदान की। सरस्वती मे ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों पर उत्कृष्ट सामग्री प्रकाशित की। हर्बर्ट स्पेंसर की पुस्तक 'एजूकेशन' (१६०६) तथा जॉन स्टुअर्ट मिल कृत 'आन लिबर्टी' (१६०७) का शिक्षा और स्वाधीनता नाम से अनुवाद कर हिन्दीभाषी पाठको के अध्ययन के आयामो का विस्तार किया। इन दिनो उनके मौलिक ग्रन्थ नाट्यशास्त्र (१६०३), विक्रमाकदेव चरित चर्चा (१६०७), हिन्दी भाषा की उत्पत्ति (१६०७) तथा सम्पत्तिशास्त्र (१६०७) प्रकाशित हुए। भाषा परिष्कार, राजनीतिक-सामाजिक चिन्तन, आलोचना तथा पत्रकारिता और अनुवाद की विशद् सभावनाओ का उद्घाटन द्विवेदी जी की हिन्दी जगत् को मौलिक देन है। उन्होने माइकेल मधुसूदन दत्त, नवीनचन्द्र सेन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रतापनारायण मिश्र, ब्रह्माबाधव उपाध्याय, शिशिरकुमार घोष, राजा रामपाल सिंह, महाराज उदयप्रताप सिंह, राजा सर श्री टी० माधवराव, रामकृष्ण परमहस तथा अयोध्या के रीतिपरम्परा के अन्तिम खेवे के आचार्य लछीराम की जीवनी लिखकर उन्होने हिन्दी पाठको की ज्ञानवृद्धि की। द्विवेदी जी का लक्ष्य महान् था। वह मानवतावाद, राष्ट्रप्रेमी तथा हिन्दीभक्त विचारको की ओर पिछडी जनता का ध्यान आकृष्ट कर उन्हे उन्नत और सबल बनाना चाहते थे। उनमे अध्यात्म और राष्ट्रभक्ति की प्रेरणा भरना चाहते थे तथा हिन्दी को समर्थ और प्रभुतासम्पन्न राष्ट्र की भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित करने का स्वप्न देख रहे थे।

हिन्दी का निखार तथा परिष्कार

डा० शिवप्रसाद शुक्ल ने १६०३ से हिन्दी मे द्विवेदी युग और १६२० से द्विवेदी परिशिष्ट युग का प्रारम्भ माना है। द्विवेदी जी ने १६०५ की सरस्वती मे एक लेख लिखकर भाषाशुद्धि पर जोर दिया। भारत मित्र के सम्पादक बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने इसका मजाक उड़ाया। इसका एक कारण यह था कि इस लेख मे द्विवेदी जी ने भारतेन्दु की भाषा पर विचार किया था। द्विवेदी जी के लेख का एक अंश लीजिए—'यहाँ हम व्याकरण विरुद्ध हिन्दी रचना के दो-चार उदाहरण देना चाहते है, उनसे इस कारण हम शतबार क्षमाप्रार्थना करते हैं—चाहे वे इस समय लोक मे हो या परलोक मे। इसमे बुरा मानने की बात नही। हम स्वय भी व्याकरण विरुद्ध लिख जाते हैं। इसका कारण यह है कि व्याकरण की तरफ लोगो का ध्यान ही कम है। और एक की देखा-देखी दूसरा भी उसकी कम परवा करता है।''

अच्छा अब उदाहरण लीजिए—'मेरी बनाई व अनुवादित वा सग्रह की हुई पुस्तको को श्री बाबू रामदीन सिंह 'खड्गविलास' के स्वामी का कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नही कि छापै। २३ सितम्बर १८८२—हरिश्चन्द्र' इस वाक्य मे पुस्तको के आगे कर्म का चिन्ह 'को' विचारणीय है।

'आप जिस भाषा को स्वप्न मे भी नही देखा उसमे दफ्तर।' राधाचरण गोस्वामी। यहाँ आप के आगे एक 'ने' की दरकार है।' इसी प्रकार की और भी त्रुटियाँ दिखाई गईं।

इसके विरुद्ध बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा—'द्विवेजी जी ने पहले ही हमले मे हरिश्चन्द्र को वह धर कर फरेडा है कि सब हिन्दी वाले ची बोल जावेगे। आप जानते है कि हरिश्चन्द्र कौन? जिसको इस समय के हिन्दी लेखक वर्तमान हिन्दी का जन्मदाता और पालनकर्त्ता मानते हैं। वही जिसकी रचनाओ को पढ़कर 'हम पचन के टुवाला माँ' बोलने वाले हिन्दी बोलने की चोच खोलने लगे हैं।

द्विवेदी जी ने इस पर क्षुब्ध होकर कल्लू अल्हैत के नाम से बैसवाडी मे 'सरगौ नरक ठेकाना नाहि' आल्हा लिखकर गुप्त जी को करारा उत्तर दिया। गुप्त जी ने 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक से आत्माराम के छद्म नाम से लेख लिखकर द्विवेदी जी पर भद्दे आक्षेप किए। हिन्दी मे एक विवाद का जन्म हुआ। गुप्त ग्रन्थावली के निबन्धो मे यह सारी सामग्री आ गई है। इसी समय द्विवेदी जी के पक्ष मे पण्डित गगाप्रसाद अग्निहोत्री, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, राहुल साकृत्यायन, श्रीधर पाठक तथा पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने अपनी व्यापक अनुकूल प्रतिक्रियाएँ प्रकाशित कराईं। इस विवाद का सुपरिणाम यह निकला कि हिन्दी के शुद्धाशुद्ध प्रयोग पर सावधानी बरती जाने लगी। द्विवेदी जी ने गुप्त जी के चिन्त्यभाषा प्रयोगो पर गभीरता से विचार किया। हिन्दी

साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन मे स्वागताध्यक्ष पद से दिया गया उनका भाषण उल्लेखनीय है। इसमे विभक्तियो के सटाऊ–हटाऊ विवाद पर भी चर्चा है। हिन्दी मे विभक्ति को हटाकर लिखने की प्रवृत्ति है, समास मे विशेष्य के साथ विशेषण सटा कर लिखा जाता है। संधि के झमेले से बचने का प्रयत्न हिन्दी मे है। हिन्दी मे दूसरी भाषाओ के शब्द आयेगे पर क्रियाशब्द, प्रत्यय, विभक्तियाँ, तथा अव्यय उसके अपने ही होगे। भारतमित्र मे प्रचलित 'चाहिये', 'कहिये' के स्थान पर वह चाहिए, कहिए लिखने के पक्षधर थे। अनुस्वार और चन्द्रबिन्दु के प्रयोग पर भी ध्यान दिया गया। पण्डित विश्वम्भरनाथ कौशिक को द्विवेदी जी ने लिखा था कि अनुनासिक स्वर को चन्द्रबिन्दु से तथा सानुस्वार को केवल बिन्दु से लिखना चाहिए। सरस्वती की लेखनशैली उस समय हिन्दी वर्तनी की दृष्टि से आदर्श थी। बाद मे पण्डित किशोरीदास वाजपेयी ने हिन्दी शब्द मीमामा लिखकर आचार्य के सूत्रो को वैज्ञानिक आधार दिया। सभा ने द्विवेदी जी के ही परामर्श से गुरु जी का हिन्दी व्याकरण बनवाया और छापा। वाग्विलास मे आचार्य ने कहा था कि हिन्दी का व्याकरण यथासम्भव सस्कृत व्याकरण के अनुसार बनना चाहिए। गुरु जी और श्री अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने सस्कृत के अनुकरण पर ही व्याकरण लिखे। हिन्दी की स्वतत्र चाल का व्याकरण तो किशोरीदास जी वाजपेयी ने ही लिखा। आचार्य द्विवेदी ने भाषा मे विभक्तियो के प्रयोग की समुचित व्यवस्था समझाई। वचन, लिंग आदि के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला पर इसका वैज्ञानिक विवेचन तब सभव न हो सका। सन् १६३० तक वाजपेयी जी ने इस दिशा मे गभीर विचार–विमर्श कर लिया था। १६३१ मे द्विवेदी जी ने एक कार्ड भेजकर वाजपेयी जी की प्रशसा की और उनकी पीठ ठोकी। भाषा परिष्कार का कार्य इसी प्रेरणा का फल है। हिन्दी की स्वतत्र सत्ता, साहित्यिक भाषा मे लिखावट की एकरूपता, भाषाभेद से शब्दभेद तथा हिन्दी प्रातिपदिको, कियाओ, विशेषणो, अव्ययो, समासो तथा लिंग आदि का मौलिक विवेचन वाजपेयी जी के 'शब्दानुशासन' मे उपलब्ध है। वाजपेयी जी ने 'आचार्य द्विवेदी और उनके सगी साथी' पुस्तक मे इस पर विस्तार से प्रकाश डाला है। हिन्दी के प्रारम्भिक युग मे लालकवि, मुशी सदासुख लाल, सदल मिश्र, इशाअल्ला खाँ, भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, गोविन्दनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त ओर श्रीधर पाठक जिस हिन्दी गद्य मे लिख रहे थे, उसमे पूर्णतया अव्यवस्था और वैविध्य था। यदि यह मनमानापन न रोका जाता तो आज हिन्दी की क्या स्थिति होती? उसकी कल्पना नही की जा सकती। स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु के स्वप्न अधूरे रह जाते। बीसवी सदी के शुरु मे ही जब आचार्य द्विवेदी हिन्दी परिष्कार की चिन्ता मे मग्न थे, तब उनके ही साथी हिन्दी लेखक स्टेशन, ष्टेशन, अन्ताराष्ट्रिय, इस्के, उस्के, कर्ना, धर्ना, जिष्मे, किष्मे, वारण्ट आदि लिखकर हिन्दी को उल्टी राह चला रहे थे। द्विवेदी जी न होते तो हिन्दी प्रकृतिस्थ न हो पाती। आचार्य वाजपेयी के शब्दो मे, "हिन्दी की प्रकृति और 'महावीर' की 'सरस्वती'–इन दो शक्तियो ने उस धारा को रोक दिया।"

काव्यालोचन

द्विवेदी जी के आलोचनात्मक निबन्धो के सकलन रसज्ञरजन, साहित्यसंदर्भ, साहित्यालाप, आलोचनाजलि, समालोचना समुच्चय, साहित्य सीकर, वाग्विलास तथा लेखाजलि नाम से उपलब्ध हैं।

इस युग मे प्रचलित काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का प्रचार अधिक था। ग्रन्थकर्ता की अन्त प्रवृत्तियो, परिवेश और युगीन पृष्ठभूमि तथा रूपनिर्माण पर विवेचन-विश्लेषण न होकर काव्य सौंदर्य पर परम्परित तत्त्वो के आधार पर समीक्षात्मक दृष्टि निवेश ही इस समीक्षा प्रणाली का आधार था। अधिक से अधिक सस्कृत, व्रजभाषा और हिन्दी के अन्य कवियो के समान भाव वाले पद्यो को आलोच्य कवि के पार्श्व में रखकर तुलना करना और फिर प्रभावपूर्ण ढंग से कवि के काव्यगत सौन्दर्य को उद्घाटित कर देना समीक्षा की देन समझी जाती थी। पद्मसिंह शर्मा, मिश्र बन्धु, लाला भगवान दीन और कृष्णबिहारी मिश्र इसी परम्परा के आलोचक थे। बिहारी और देव को लेकर लिखे गए इनके समीक्षात्मक ग्रन्थ इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। 'कविवृत्त सग्रहो' के प्रकाशन पर भी ध्यान दिया गया। सभा द्वारा प्रस्तुत खोज विवरणो के कारण इन कविवृत्त सग्रहो मे अनेक ज्ञात, अल्पज्ञात और अज्ञात कवियो के वृत्त सकलित हैं। द्विवेदी जी ने कवियो और लेखको के भाषाप्रयोग पर ध्यान देकर उस समीक्षाधार को भी प्रस्तुत किया जो कालान्तर मे शैली विवेचन का मुख्य अग बना। द्विवेदी जी के अतिरिक्त इस युग के तुलनावादी समीक्षको मे शुद्ध साहित्यिक समीक्षा के दर्शन कम और पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोण की स्थापना का प्रयत्न अधिक है। द्विवेदी जी मे भी सग्राहकवृत्ति, सूचनात्मकता, ज्ञान विस्तार तथा रुचि परिष्कार की भावना अधिक है पर पर्यवेक्षण और विश्लेषण की क्षमता कम। उनकी आलोचनात्मक टिप्पणी का नमूना लीजिए--"छायावादियो की रचना तो कभी-कभी समझ मे भी नही आती। ये बहुधा बडे ही विलक्षण छन्दो का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छः पदे। कोई ग्यारह पदे तो कोई तेरह पदे। किसी की चार सतरें गज गज भर लम्बी तो दो सतरे दो ही अगुल की। फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा मे इनकी रचना एक अजीब गोरखधधा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल और न ये पूर्ववर्ती कवियो की प्रणाली के अनुवर्ती नए समालोचको के परामर्श की परवाह करने वाले। इस हम दानो को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ मे नही आता।" विद्वानों ने द्विवेदी जी के निबन्धो को 'टिप्पणी' जैसा कहा है। शुक्ल जी उन्हे 'बातो का सग्रह' मात्र मानते हैं।

सरस्वती के सम्पादनकाल मे समालोचनार्थ जो पुस्तकें आती थी, उनकी भाषाविषयक भूलो की कड़ी आलोचना द्विवेदी जी करते थे। परिणामत लेखक सावधान हुए और व्याकरणसम्मत भाषा लिखने लगे। भाषा के अतिरिक्त गुण-दोष का विवेचन भी

इन पुस्तक समीक्षाओं मे हुआ करता। स्वच्छन्दतावादी परम्परा को उनका समर्थन नही मिला। हिन्दी आलोचको और सम्पादको के सामने उन्होने यह आदर्श रखा कि समीक्षात्मक टिप्पणियो का उद्देश्य जहाँ कृति की विशेषता या दुर्बलता बताना है, वहाँ पाठको की बुद्धि का विकास तथा उनकी रुचि का परिष्कार करना भी है। प्राचीन और नवीन साहित्य, इतिहास, सस्कृति, पुरातत्त्व, विज्ञान, भूगोल, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्म तथा देश-विदेश की घटनाएँ और समाचारो से अपने पाठको को अवगत कराना तथा रोचक शैली मे अपने मन्तव्यो का उपस्थापन करना उनका लक्ष्य था। कभी-कभी तो आलोचना के लिए विविध विषयो की पुस्तकें वह मूल्य देकर मँगवाते। द्विवेदी जी नैतिकता और उपयोगिताप्रधान लेखन को प्रोत्साहन देते थे। आज के समीक्षक इन्हे शुद्ध कवितावादी आन्दोलन के साथ साहित्येतर मूल्यो के प्रतिष्ठापक आलोचक के रूप मे हेय दृष्टि से देखते है पर वे यह भूल जाते है कि रसात्मकता और नैतिकता दोनो का सश्लिष्ट रूप द्विवेदी जी मे है। रसवादी कवियो की अर्थच्छवियो का उद्घाटन सस्कृत और हिन्दी काव्य समीक्षा के प्रसग मे उन्होने किया है।

हिन्दी कविता और गद्य को विषय की दृष्टि मे उन्होने व्यापकता प्रदान की। 'साहित्यालाप' मे उन्होने लिखा–'काव्यो की रचना और उनका विषय ऐसा होना चाहिए जो देश और काल के अनुकूल हो।' रीति परम्परा का विरोध करते हुए 'कवि कर्त्तव्य' शीर्षक निबन्ध मे लिखा–'यमुना के किनारे केलि कौतूहल का अद्भुत-अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओ पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओ के गतागत की पहेली बुझाने की।' स्पष्ट है, वह बदलाव चाहते थे और साहित्य को जीवन के साथ जोडकर देख रहे थे। रस को कविता का सबसे बडा गुण मान रहे थे तथा असलियत, यथार्थ और जोश को कविता की विशेषता बताकर विषय के अनुकूल शब्दस्थापना और मुहावरेदार भाषानिर्माण की आवश्यकता पर बल दे रहे थे। मनोरजन और उपदेश काव्य के धर्म हैं। मनोरजन को काव्यानन्द और उपदेश को विचारतत्त्व का पर्याय समझकर यह कहा जा सकता है कि भाव और विचारतत्त्व की सगति अच्छे साहित्य को उत्पन्न करती है। श्री मैथिलीशरण गुप्त को उन्होंने अपनी काव्यचेतना के आदर्श प्रतीक के रूप मे हिन्दी जगत् के सामने प्रस्तुत किया। परिपाटी बद्ध छन्दो के अतिरिक्त सस्कृत और उर्दू कविता मे प्रयुक्त छन्दो को अपनाने की प्रेरणा भी उन्होंने कवियो को दी। दोहा, कवित्त, सवैया की दो शताब्दी पुरानी परिपाटीगत जडता को तोडकर उन्होंने नवीनता का बोध कराया। नये छन्दो के चयन की आवश्यकता उन्हे उचित जान पडी क्योकि अनुप्रासो के ढूढने के प्रयास मे समुचित शब्द न मिलने से अर्थाश की हानि की सभावना हो जाया करती है, इससे कविता की चारुता नष्ट हो जाती है। अनुप्रासो का या तुको का विचार न करने से कविता लिखने मे सुगमता भी होती है और मनोऽभिलषित अर्थ व्यक्त करने मे कठिनाई भी नही पडती। समालोचना समुच्चय मे उन्होने लिखा कि छन्द के पीछे पडे रहने से ही कविता नही होती। कविता के नाम से पद्यरचना करना एक बात है और कवि होना दूसरी बात है।

है। द्विवेदी जी ने नाटक, उपन्यास, निबन्ध, कहानी, जीवनी और आलोचना सभी पर विचार किया। कथा भाग मे मनोविज्ञान के नियमो के निवेश को उन्होने आवश्यक माना। संस्कृत कथा साहित्य की यही दुर्बलता थी। द्विवेदी जी चाहते थे कि कथासाहित्य जीवन और जगत् का मुकुर होना चाहिए। द्विवेदी जी अध भारतीयतावादी नही थे। यदि योरप से ज्ञान के क्षेत्र मे कुछ नवीन और उपयोगी आया तो उसे स्वीकार करने मे उन्होने हिचक न दिखाई। 'आलोचनाजलि' मे उन्होने आधुनिक आलोचना के सदर्भ मे लिखा–'समा-लोचना करने की नयी प्रणाली अग्रेजी शिक्षा की बदौलत हमने सीखी है।' इस तथ्य से परिचित हो जाने पर हम देख सकेगे कि प्राचीन और नवीन कवियो के गुण-दोषो के उद्घाटन मे छद, अलकार, रस, व्याकरण के साथ आधुनिक मानसशास्त्र तथा मानविकी के निष्कर्षों का भी उपयोग करने की प्रवृत्ति द्विवेदी जी ने उत्पन्न की और फिर उसका विकास मनोवैज्ञानिक, समाजवादी, स्वच्छन्दतावादी और रसवादी समीक्षा सरणियो के रूप मे आधुनिक युग मे हो सका। हिन्दी मे कल्पनावादी समीक्षक के स्थान पर वास्तविकतावादी समीक्षा पद्धति के जन्मदाता द्विवेदी जी ही हैं और यह सामान्य बात नही कि छायावादी काव्यशैली को लेकर जो दृष्टिभेद द्विवेदी जी ने प्रस्तुत किया, वही शुक्ल जी ने भी बर-करार रखा।

स्वाभिमान और साहित्यानुशासन के प्रतीक

द्विवेदी जी अत्यन्त स्वाभिमानी थे। दैन्य उनके पास तक नही फटका। उन्होने अपना पुश्तैनी धन तथा अर्जित राशि काशी विश्वविद्यालय और नागरी प्रचारिणी सभा को दान कर दिए थे। एक बार २०-१२-१६३२ को मथुरा से डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सस्कृत मे पत्र लिखकर द्विवेदी जी को सूचित किया कि वह और उनके मित्र मिलकर उन्हे थैली भेंट करना चाहते हैं तथा इस सम्बन्ध मे उनकी अनुमति चाहते हैं। परिवार मे किसी को ज्ञात न हो अत पत्र सस्कृत मे लिखा जा रहा है–"स्थान स्थानत नकुली पुष्टयर्थ धन सचेष्यते। सर्वमिद निसर्गत भविष्यति भवता पत्र तु मद्दते न केनापि दृष्टम्। हिन्दीमपहाय सस्कृताश्रयण क्षन्तव्य गुह्याभिधेयेऽस्मिन्।"

तीन दिन बाद ही दौलतपुर से द्विवेदी जी ने अग्रवाल जी को पत्र लिखा। इस पत्र से आज के उन साहित्यकारो को सबक लेना चाहिए जो पद-प्रतिष्ठा, पुरस्कार और थैलियो के लिए शहद की मक्खी की तरह श्रीसरोज के इर्द-गिर्द मँडराया करते है। द्विवेदी जी ने लिखा—

भाई वासुदेव,

यह क्या लिख मारा। जरा भी याद नही मैंने अपने पत्र मे क्या लिखा था जो आपको ऐसा ख्याल हुआ। अगर मैंने कौटुम्बिक दुरवस्था का जिक्र किया है तो उसका कारण अर्थकृच्छ्रता नही, कलह है। मेरा भानजा अपढ रह गया, वह आवारा भी है।

बड़ी कष्ट मुझे खलता है। काफी पेंशन मुझे मिलती है। ५२ बीघे का काश्तकार हूँ। अन्न-वस्त्र की कमी नहीं। जो कुछ पास था, अधिकांश काशी विश्वविद्यालय और नागरी प्रचारिणी सभा को दे दिया। अब भी कुछ न कुछ दान दिया ही करता हूँ। जिसे थैली की बात लिखी हो, उसे फिर लिखिए। कहीं उसकी चर्चा न हो। उससे मुझे कष्ट होगा। यह सब कुछ है पर आपकी कृपा का जो अनुभव मुझे अब हुआ है, वह कभी भूलने का नहीं।"

—म० प्र० द्विवेदी

अधिन्योस्म यत्त्वं मयि सानुराग
क्रीतोऽस्म ते कामनयैव सौम्य।
नेच्छामि नून नकुली गृहीत,
ममापराध भगवन क्षमस्व।
संस्कृतानभिज्ञस्य परीक्षणभयभीतस्य
द्विवेदिनो महावीरप्रसादस्य।

दौलतपुरग्रामात्
२२-१२-३२

पण्डित कामताप्रसाद गुरु से सभा ने हिन्दी व्याकरण लिखवाया। द्विवेदी जी उसके निरीक्षक थे पर जब वाच्यप्रकरण को लेकर प० किशोरीदास वाजपेयी जी ने अपना पृथक् मन्तव्य प्रतिपादित किया तब द्विवेदी जी ने १७-११-३३ को पत्र लिखकर उनकी पीठ ठोंकी। यों भाषा परिष्कार के अभियान के प्रति उनका आशीर्वाद सबके लिए सुलभ था। द्विवेदी जी ने अपने पत्र मे लिखा —

दौलतपुर, रायबरेली
१७-११-३३

"आशीष,

मुकुलित वगैरह के साथ स्फुट को आप भूल गए। हिन्दी के कोविद उसे फुटकर के अर्थ मे लिखते हैं।

जिसने लघुकौमुदी के भी दर्शन नही किये उसे वाच्यो का तारतम्य आप सिखलाना चाहते है।

आपके लेख देखकर मुझे बडी खुशी होती है। आप खूब लिखते है। खेद है, मैं बहुत ही कम पढ सकता हूँ। मेरा उन्निद्र रोग आजकल बहुत बढ गया है। व्याकुल रहता हूँ। एक कार्ड लिखने से भी गश आ जाता है। स्मृति का यह हाल है कि आपका पता भूल गया।

शुभेच्छु
म० प्र० द्विवेदी

इस पत्र से पता चलता है कि सेवानिवृत्त तथा रोगाक्रान्त होने पर भी द्विवेदी जी साहित्यिक गतिविधियों के प्रति जागरूक थे तथा हिन्दी परिष्कार के क्षेत्र में होने वाले कार्य को प्रोत्साहन देते थे।

द्विवेदी जी समग्र पुरुष थे। सेवानिवृत्त होने पर एक ओर वह साहित्यसाधना में निरत रहे तो दूसरी ओर ग्राम सुधार के काम में लगे रहे। ग्राम मुंसिफ बनकर उन्होंने गाँव की भलाई के बहुत से काम किए। डाकघर, प्राइमरी स्कूल, औषधालय, कांजी हाउस, नाव घाट, कम सूद पर ऋण, पचायती फैसले तथा मुंसिफी की स्थापना उनके बहुमुखी व्यक्तित्व का परिचय देते हैं। इस अवस्था में भी पैदल तीन मील चलकर एक पण्डित जी के पास प्रसिद्ध अलकार ग्रन्थ 'कुवलयानन्द' पढ़ने जाते थे। यह उनके विद्याव्यसन का ज्वलन्त प्रमाण है। सरस्वती के अलावा वह आज, माधुरी जैसी पत्रिकाओं में भी लिखते रहे। उनके अधिकांश आलोचनात्मक लेख अन्तिम वर्षों में लिखे गए। छायावाद विरोध के कारण प्रसाद, पंत, निराला, नन्ददुलारे वाजपेयी उनसे रुष्ट रहे। डा० नगेन्द्र प्रभृति आलोचकों ने द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता के विद्रोह के रूप में छायावाद को मान्यता देकर प्रमाणित किया कि परिवेश और परम्परा से बंधा होने के कारण सर्ज-नात्मक अनुभूति का विवेचन-विश्लेषण वहाँ नहीं है परिणामत. कलावादी मूल्यों की उपेक्षा हुई है। आधुनिक समीक्षक द्विवेदी जी को नव्यशास्त्रवादी कहते है। समाज सुधार और काव्य सुधार कार्य मवेत आदर्श इस कठोर नैतिकतावादी दृष्टि का उत्स रहा है। उनके समानधर्मा आलोचक पूर्णत रूढिवादी रहे पर द्विवेदी जी अकेले उस रूढिवाद के विरुद्ध रहे तथा परम्परागत रीतिवाद का खण्डन कर मानवीय सवेदना और सत्य के आधार पर जीवन सापेक्ष काव्यालोचन की सभावनाओं की याद दिलाते रहे। हिन्दी के संस्कृत-अंग्रेजी सिद्धान्त समन्वित स्वतंत्र आलोचनाशास्त्र के निर्माण की चाह आचार्य द्विवेदी के मन में थी और यही रामचन्द्र शुक्ल, नन्ददुलारे वाजपेयी और नगेन्द्र जी के प्रयत्नों में परिलक्षित दिखाई पड़ती है। द्विवेदी जी हिन्दी भाषा की प्रकृति की पहचान, आलोचना के समाजसापेक्ष मूल्य निर्धारण, आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का समन्वय तथा जन-आन्दोलन की दिशा सुझाने के कारण हिन्दी के युग निर्माता आचार्य हैं। जातीय और सांस्कृतिक उत्थान की लहर सरस्वती ने समेटी और फिर उसे पूरे हिन्दी क्षेत्र में तरगायित कर दिया।

आचार्य पद्मसिंह शर्मा और स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के साथ द्विवेदी जी का घनिष्ट सम्बन्ध था। गुरुकुल में इन दोनों दिग्गजों की उपस्थिति से हिन्दी ससार को प्रेरणा और प्रोत्साहन मिला। प्रह्लाद का यह विशेषांक द्विवेदी जी को इसी स्मृति-डोर के साथ 'श्रद्धांजलि' मंजूषा अर्पित करता है। आशा है, वर्तमान हिन्दी पीढ़ी आचार्य द्विवेदी के विचारों की प्रतिध्वनि सुनकर अधिकाधिक उर्वरता ग्रहण करेगी। परम्परा के पुनराख्यान से शक्ति मिलती है और स्वतंत्र चिंतन की दिशा भी।

आचार्य महावीर 'द्विवेदी' जी का भाषा परिष्कार

डा० गंगालाल शर्मा
वरिष्ठ रीडर, हिन्दी विभाग
अलीगढ़ विश्वविद्यालय

हिन्दी साहित्य एव भाषा के विकास एव निर्माण मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम सर्वोपरि है। वे युग निर्माता थे। वे हिन्दी साहित्य और भाषा के आजीवन सम्वर्द्धक एव सम्पोषक रहे। उन्होने सस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी, बगला, गुजराती, मराठी और अग्रेजी का अध्ययन करके जहाँ एक ओर साहित्य के अवगाहन द्वारा उसके मर्म और उद्देश्य को आत्मसात् किया, वही दूसरी ओर भाषा के परिष्कार, स्थिरीकरण, सामर्थ्य, सम्पन्नता, एकरूपता एव मानकीकरण की दिशा मे उल्लेखनीय कार्य किया। उन्होने स्वय के लेखन और मित्रो के लेखो एव रचनाओ के सशोधन द्वारा साहित्य की विविध विधाओ का विकास तथा भाषा को व्यवस्थित करने मे अविस्मरणीय अथक परिश्रम किया। इस पृष्ठभूमि मे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। द्विवेदी जी ने साहित्य समाधान हेतु सरस्वती के सम्पादकत्व का महान दायित्व लिया और युगीन गतिविधियो का साक्षात्कार कर देश मे व्यापक चेतना के उल्लसित स्वरो से साहित्य को अनुप्राणित कर जीवन का उसके साथ जो अविच्छिन्न सबध स्थापित किया, उसका शुभारम्भ यद्यपि भारतेन्दु जी ने अपनी रचनाओ द्वारा जीवन की यथार्थता से जोडकर कर दिया था।

भारतेन्दु जी से पूर्व खडी बोली का रूप स्थिर नही था। खडी बोली गद्य के प्रथम चार आचार्य मुन्शी सदासुखलाल, इशा अल्लाखाँ, लल्लूजी लाल एव सदल मिश्र यद्यपि खडी बोली गद्य मे नये प्रयोग कर चुके थे। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने जहाँ अपनी भाषा मे अरबी फारसी की शब्दावली को प्रधानता दी वहाँ राजा लक्ष्मणसिंह ने इसकी प्रतिक्रियास्वरूप अभिज्ञान शाकुन्तलम् का शुद्ध हिन्दी मे अनुवाद करके हिन्दी और उर्दू दो पृथक भाषाओं की स्थिति उत्पन्न कर दी। इस स्थिति के निराकरण हेतु खडी बोली गद्य का सहज और स्वाभाविक रूप अभिव्यक्त करने के लिए भारतेन्दु जी ने जनसाधारण की भाषा को आधार बनाया और "विद्या सुन्दरी" नाटक द्वारा हिन्दी उर्दू मिश्रित भाषा का व्यावहारिक स्वरूप प्रस्तुत किया। उन्होने स्वय घोषणा की "हिन्दी नई चाल मे ढली १८७३ ई०।" इन प्रयासो से हिन्दी गद्य तो सशक्त एव समृद्ध हुआ किन्तु भाषा के परिष्कार, एकरूपता, सूक्ष्मता आदि का अभाव बना रहा। भारतेन्दुकालीन साहित्य मे अनेक अव्यवस्थित प्रयोग हुये थे। जैसे :—

"आबहु भाई, देखी जाई, बडी ताडना, अपना किया" आदि जो द्विवेदी जी की आँखो मे सदैव खटकते रहे। इन जैसे प्रयोगो के परिष्कार हेतु द्विवेदी जी ने भाषा सुधार का बीडा उठाया।"

काव्य भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध मे बहुत समय तक ब्रजभाषा बनाम खडी बोली का आन्दोलन चलता रहा और ब्रजभाषा ही काव्य की प्रभावी भाषा बनी रही। ब्रजभाषा कवियो का मत था कि खडी बोली मे काव्योपयुक्त गुणो का अभाव है। किन्तु द्विवेदी जी ने इस द्वन्द से छुटकारा पाने के लिए खडी बोली मे काव्य रचना हेतु कवियो को प्रोत्साहित किया। "प्रिय प्रवास" (हरिऔध), "जयद्रथ वध", "भारत भारती", एव "साकेत" (मैथिली शरण गुप्त) आदि खडी बोली की उत्तम काव्य कृतियो की रचना इसी की देन है। वस्तुत: द्विवेदी जी का यह अथक एव सफल प्रयास ही था, जिसके परिणामस्वरूप खडी बोली भी काव्य के सर्वथा उपयुक्त भाषा स्वीकारी गयी। उसमे श्रेष्ठ काव्योचित क्षमता, परिपक्वता, मार्दव, शुद्धता, रसात्मकता आदि का समावेश हुआ।

सन् १९०३ ई० मे सरस्वती का सम्पादकत्व स्वीकार कर एक विशेष उत्तरदायित्व एव निष्ठा के साथ द्विवेदी जी ने अत्यधिक परिश्रम करते हुए भाषा परिष्कार के महान उद्देश्य की पूर्ति हेतु पूर्ण समर्पित एव सकल्पनिष्ठ पीढी का निर्माण किया। जिन्होने खडी बोली को स्थिरता एव प्रौढता प्रदान की। इन्होने द्विवेदी जी से प्रेरणा एव प्रोत्साहन पाकर उनके मार्गदर्शन मे साहित्य, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, सगीत, चित्रकला एव नीतिशास्त्र आदि अनेक विधाओ पर गम्भीर एव गवेषणापूर्ण निबन्ध लिखे एव लिखवाए। इस सम्बन्ध मे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी जी का यह कथन सत्य है —

"द्विवेदी जी के ही उद्योग एव प्रोत्साहन का परिणाम है कि मैथिलीशरण गुप्त ऐसे भारतप्रसिद्ध कवि, बाबू गोपालशरण सिंह ऐसे सत्कवि और रामचरित उपाध्याय ऐसे पण्डित कवि हिन्दी मे दिखाई पडे।" [1]

स्वय द्विवेदी जी ने अपनी महान रचनाधर्मिता से हिन्दी साहित्य की प्राय सभी विधाओ को प्राणवान् करते हुए उसे पर्याप्त समृद्ध किया। द्विवेदी जी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य भाषा परिष्कार का है। वास्तविकता यह है कि द्विवेदी जी से पूर्व किसी भी भाषा पण्डित एव समीक्षक ने भाषा परिष्कार की ओर ध्यान ही नही दिया था। द्विवेदी जी से पूर्व इस रूप मे भाषा परिष्कार का प्रश्न ही नही उठा था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है.

भारतेन्दु जी ने हिन्दी गद्य-पद्य की भाषा को विषयानुकूल, सजीव, प्रौढ एव समर्थ बनाने का प्रयास किया था। उनका उद्देश्य राष्ट्रभाषा के रूप मे हिन्दी भाषा को एक

१–आचार्य नन्द वाजपेयी–"हिन्दी साहित्य बीसवी शती–पृ० १।

व्यावहारिक भाषा का रूप देना था। अत: उन्होंने क्लिष्टता एवं बाह्य प्रभाव से हिन्दी को मुक्त रखने हेतु सस्कृत, उर्दू एवं अग्रेजी शब्दो के प्रयोग की प्रवृत्ति को प्रश्रय न देकर एक सहज, सजीव, अकृत्रिम एवं व्यावहारिक हिन्दी के रूपनिर्माण पर विशेष बल दिया।

द्विवेदी जी ने अनुभव किया कि भारतेन्दुकालीन भाषा मे सरलता एव स्पष्टता तो है किन्तु एकरूपता एव व्याकरण सम्मत प्रयोगो का अभाव है। दूसरे ब्रजभाषा के प्रभूत प्रभाव एव सस्कृतमोह ने भी भाषा के रूप को विकृत कर दिया था। शब्द प्रयोगो मे अनेक रूपता थी। जैसे–हुआ/हुवा/हुया, जायेगा/जाएगा, मूर्ख/मूरुक/मुरुख, इन्हे/इनें, स्थिर/स्थाई/स्थायी, परन्तु/परतु आदि।

वचन, लिंग एव वाक्य रचना से सम्बन्ध अनेकानेक अशुद्ध प्रयोगो से भाषा का रूप बहुत विकृत था। इस सम्बन्ध मे डा० शकरदयाल चौऋषि का विचार है–

"भिन्न-भिन्न प्रकृति के शब्दो, पदो तथा वाक्यो मे स्वछन्द एव अबाध प्रयोगो मे न तो शब्दो की एकरूपता ही थी न उसकी उचित व्यवस्था ही। व्याकरण के "अकुश के अभाव मे साथ ही एक कठोर नियन्ता चतुर समालोचक तथा दूरदर्शी शासक की अत्यधिक आवश्यकता थी।"[1]

द्विवेदी जी से भी पूर्व भाषा के रूप का पूर्ण आभास पण्डित जगन्नाथप्रसाद शर्मा के इस उल्लेख से हो जाता है —

"पूर्वकाल मे भाषा की जो साधारण शिथिलता थी अथवा व्याकरण सम्बन्धी निर्बलता थी उसका परिहार द्विवेदी जी के मत्थे पडा। अभी तक जो जैसा चाहता था लिखता रहा। कोई इसकी आलोचना करने वाला न था। अत इन लेखको की दृष्टि भी अपनी त्रुटियो की ओर नही गई थी। द्विवेदी जी जैसे सतर्क लेखक इसकी अवहेलना न कर सके। अतएव उन्होने लेखको की रचना शैली की आलोचना प्रारम्भ की जो व्याकरणगत दोषो का विचार अपनी रचनाओ मे नही करते थे।"[2]

द्विवेदी जी के समय भाषा मे अव्यवस्था एव अनेक रूपता परिख्यात थी। जैसे– 'अ' के स्थान पर 'इ' और 'उ', तथा 'आ' के स्थान पर 'वा' के गलत प्रयोग हो रहे थे। साथ ही 'विकालत', 'हुवा', 'समुझ', 'हरिणीयो', 'केली', 'कीशोरी', 'ध्वनी' 'ज्योहिं', 'तुझे', 'कारूणिक', 'उपर', 'प्रतिकुल', करैं, रहैं, जानौं, वीरो, तौ, के, जिन्हें, सैं, जैसे प्रयोग ब्रजभाषा के प्रभातस्वरूप प्रचलित थे। द्विवेदी जी ने स्वय भी अपनी प्रारम्भिक रचनाओ मे अशुद्ध प्रयोग किए थे। जैसे यकदम, यमए, लाव, चेष्ठा, विडम्बना बडे–बडे, चढाई, निदइ, दुखदाइ, दिआ आदि। र और रेफ के प्रयोग भी मनमाने थे।

१–"डा० शकर दयाल चौऋषि—द्विवेदी युग की गद्य—
शैली का अध्ययन पृष्ठ १३५।
२–"श्री जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—हिन्दी गद्य शैली का विकास, पृष्ठ ७३।"

जैसे– निरमाण, पूरब, मनोर्थ, अन्तकर्ण आदि। व्याकरणगत अशुद्धियों की भरमार थी। जैसे–चातुर्यता, सौन्दर्यता आदि। वाक्यगत प्रयोग भी अशुद्ध थे, जैसे–अपना हित साधन मे चेष्टा न करना चाहिए, हमारा मृत्यु तेरा पराजय, रूप के किरण, इस काम को "उत्सव मनाए जाने को तैयार", सम्मान, इन्द्रियन, दामपत्य, हस्ताक्षेप, उतकंधित, ऊंचा, उडान, उपमा देवे योग्य, दो कार्य भए, आख्यायिको जैसे प्रयोगो की भरमार थी।

इन सब विकृत एव अशुद्ध प्रयोग होने का एक कारण यह भी था कि उस समय लेखको के सामने कोई आदर्श नही था। उस समय अच्छे शब्दकोष, व्याकरण ग्रन्थ, सर्वमान्य एव सर्वस्वीकृत कसौटी की कमी थी।

द्विवेदी जी ने स्वय को तो व्याकरणसम्मत लेखक बनाया ही साथ ही उन्होंने समीक्षा पुस्तको एव सरस्वती के पुस्तक समीक्षा अक मे लेखको की कृतियो की भाषा एव व्याकरण सबधी त्रुटियो की निर्भय एव निर्मम होकर कटु समीक्षा की, साथ ही उनका सशोधन भी किया। इस प्रकार अन्य लेखको को भी व्याकरणसम्मत भाषा लिखने को विवश किया। डा० उदयभानु सिह ने लिखा है[1] :—

द्विवेदी जी ने चार प्रकार से भाषा सुधार करके खडी बोली के परिष्कृत और परिमार्जित रूप की प्रतिष्ठा की। उन्होने दूसरो के दोषो की तीव्र आलोचना की। सम्पादक पद से सरस्वती के लेखको की रचनाओ का सशोधन किया और कराया। अपने पत्रो, सम्भाषणों, भूमिकाओ और सम्पादकीय निवेदनो द्वारा कवियो और लेखको को उनके दोषो के प्रति सावधान किया। साहित्यकारो की भाषा का भी समय–समय पर सशोधन किया।

आचार्य द्विवेदी जी ने जिस किसी कविता, लेख, कृति को सरस्वती मे प्रकाशनार्थ प्राप्त किया उसकी भाषा शुद्धि करना वे अपना दायित्व समझते थे। अत उन्होने उन रचानाओ की भाषा को आदि से अन्त तक सुधारा। उनकी "हिन्दी कालिदास की समालोचना", "समालोचना समुच्चय" जैसी पुस्तकाकार समीक्षा कृतियाँ भी उनके भाषा परिष्कार के श्रेष्ठ प्रमाण हैं। उन्होने उन अशुद्धियो की ओर सकेत भी किया है —

"अनुवादक महोदय ने व्याकरण नियमो की बहुत कम स्वाधीनता स्वीकार की है। कही क्रिया है तो कर्ता नही और कर्ता है तो क्रिया नही। कारक चिन्हो की तो अतिशय अवहेलना हुई है। काल और वचन विचार को भी अनेक स्थानो पर तिलाजलि मिली है। इन महान दोषो के कारण भाषा पद्यो का ठीक-ठीक अन्वय ही नही हो सकता। यही दशा प्राय सारे अनुवाद की है।"[2] पण्डित सुधाकर द्विवेदी की पुस्तक "रामकहानी" की समीक्षा करते हुए वे कहते हैं —

१–डा० उदयभानु सिंह–महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० ८।
२—सरस्वती, सन् १९०९, पृष्ठ ४५।

"इस पुस्तक की भाषा न हिन्दी है, न उर्दू है, न गवारी है। वह इन सबकी खिचडी है। किसी की मात्रा कम है, किसी की अधिक। गेहू, चावल, तिल, उरद, आदि सात धान्य कोई कम कोई अधिक सब एक मे गड्ड–बड्ड कर देने से जैसे कई बोलियो की खिचडी की है।"[1]

द्विवेदी जी द्वारा की गई कटु आलोचना के पीछे उनका उद्देश्य भाषा के शुद्ध एव परिष्कृत रूप को सामने रखना ही था। उन्होंने उस समय भाषा मे व्याप्त अस्थिरता एव व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियो के अनेक उदाहरण देते हुए लिखा है —

"एक लेखक लिखता है "जिनने, उनने" दूसरा "जिन्होने, उन्होंने, इन्होने"। एक लिखता है वह काम इस तरह होय, दूसरा लिखता है वह काम उस तरह होवे इस अस्थिरता का कही ठिकाना है।"

द्विवेदी जी ने सेठ गोविन्ददास को पत्र लिखा जिसमे उनके अभिभाषण की अशुद्धियो की ओर सकेत भी किया है —

"अभिभाषण के पृ० १५ पर स्त्रियोपयोगी शब्द खटकता है। जरा आप भी विचार कर लीजिये। अन्त के पद्य की अन्तिम पक्ति मे "करके" मे "के" अधिक जान पडता है।"[2] द्विवेदी जी ने केशवराम भट्ट की पुस्तक हिन्दी व्याकरणो मे प्रयुक्त अशुद्ध शब्दो पर भी लिखा है —

"शास्त्री की जगह शास्त्रीय क्यो नही। यदि शास्त्री ही लिखना था तो वैज्ञानिको की जगह विज्ञानो क्यो नही।" उनके द्वारा राजा शिवप्रसाद की भाषा को सुधारने का उदाहरण प्राप्त है —

मूल–"बिजली बादलो मे ही नही रहती। थोडी बहुत सब जगह और अक्सर सब चीजों मे रहा करती है। यहाँ तक कि हमारे और तुम्हारे बदन मे भी और कलो के जोर से भी निकल सकती है।"

सशोधन —थोडी बहुत बिजली..............................कि वह हमारे और तुम्हारे बदन मे भी है। वह निकल सकती है।"[3] द्विवेदी जी का लक्ष्य विषयानुकूल श्रुति, मधुर शब्दो के प्रयोग पर बल देना था। अत उन्होने कर्णकटु शब्दो के प्रयोग की कटु आलोचना करते हुए लिखा है —

"ठण्ड के झुण्ड को तो देखिए। शीत और शीतल को अर्द्ध चन्द्र देकर जहाँ–जहाँ

१–सेठ गोविन्ददास-हिन्दी प्रवर्तक द्विवेदी स्मृति अक, पृ० ४४।

२–सरस्वती भाग ६, सख्या–१, पृ० २८३।

३–सिताकर २३वी आवृति—राजा शिवप्रसाद।

आवश्यकता पड़ी है, प्राय ठण्ड का ही प्रयोग किया गया है। चचु अथवा चोच शब्द नहीं आने पाया, अपनाया है "टोंट"। पलाश और किंशुक का प्रयोग नहीं हुआ, हुआ है टेसू का। "पाथर डोरी", "धनुडोर नेवाडी" की मधुरता तो देखिए। कुमारसम्भव भाषा मे अनुवादक जी ने—"बने जु टुटुत सप्त ऋषि, हाथर टुटे तार की बीन समाना" लिखा था। इसमे टुटी माल बिखरी लटें बसे अगरसन केस लिख दिया। टूटती क्रिया से अधिक स्नेह जान पड़ता है। "अस्त होना स्यात् कटु था, जिससे "डूबना" लिखा गया। अनुवादक जी अभी तक ठण्ड के पीछे पड़े थे। छोड़ते-छोड़ते उसे छोड़ा तो उसके स्थान मे जाड़ा लिख दिया। ईट न सही पत्थर सही।"[1]

द्विवेदी जी द्वारा अनस्थिरता शब्द पर बाबू बालमुकुन्द गुप्त का विवाद सर्व-ज्ञात है। गुप्त जी का कहना था कि "अस्थिरता" ही साधु रूप है अनस्थिरता नहीं। द्विवेदी जी भी अनस्थिरता की साधुता प्रमाणित करने एव कराने मे पीछे नहीं रहे। उन्होने "सस्कृत चन्द्रिका" के सम्पादक श्री अप्पा शास्त्री विद्यावागीश से भी अपने प्रयोग को ठीक मनवाया। किन्तु द्विवेदी जी के विरोधियो ने कहा कि न स्थिर, अस्थिर होगा, अनस्थिर नहीं और अनस्थिर मे"ता" प्रत्यय का योग तो नितान्त अशुद्ध है। किन्तु द्विवेदी जी ने भी अपने प्रयोग की पुष्टि मे उदाहरण दिए—"अनमिल आखर अरथन जापू" हित अनहित पशु पच्छिहू जाना।"

"अन देखी अन सुनी बनाय कुकथा कहै सभा मे आय।" "कहि गिरिधर कविराय घेरे आवं अनगैरी।" "अनहोनी होनी करं होनी होर न देय" आदि। इन प्रयोगो की तरह उन्होने भी अनस्थिरता प्रयोग को शुद्ध बताया।

द्विवेदी जी ने वाग्विलास मे भी इस सम्बन्ध मे लिखा—

अस्थिरता की जगह अनस्थिरता लिखा अनुचित नहीं। अस्थिरता शब्द केवल स्थिरता के प्रतिकूल का द्योतक है। जो स्थिर नहीं वह अस्थिर है। परन्तु जिसमे अतिशय अस्थिरता है, जिसमे अस्थिरता की मात्रा अत्यन्त अधिक है उसके लिए अनस्थिरता ही का प्रयोग हम अधिक ठीक समझते हैं।"[2] इसके अतिरिक्त सस्कृत व्याकरण के आधार पर भी इस प्रयोग का साधुत्व उन्होने उचित ठहराया—"न विद्यते अस्थिर यस्मात् तत् अनस्थिर तस्य भाव अनस्थिरता।"

द्विवेदी जी के समय भाषा माध्यम का विवाद भी बहुत समय तक चलता रहा। महात्मा गाधी, गोविन्द रानाडे, प्रेमवल्लभ जोशी, प्रमथनाथ चौधरी, आशुतोष मुखर्जी और स्वय द्विवेदी जी आदि देशप्रेमी विद्वान लोग शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय स्तर पर भाषाओ और राष्ट्र स्तर पर हिन्दी का समर्थन कर रहे थे। द्विवेदी जी ने सरस्वती मे १९०३ मे "देश व्यापक भाषा" निबन्ध लिखकर प्रान्तीय भाषाओ के प्रयोग और देशव्यापी भाषा के रूप मे हिन्दी को अपनाने का विशेष आग्रह किया। डा० रामविलास शर्मा ने इस सम्बन्ध मे लिखा है —

१—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी कालिदास की समालोचना, पृष्ठ ४३।
२—वाग्विलास, पृ० ११।

"उन्होंने गुजराती, बंगला, मराठी आदि भाषाएँ बोलने वालो से हिन्दी को देश-व्यापी भाषा के रूप मे अपनाने का आग्रह करते हुए अन्य भाषाओ के अधिकारो की भी चर्चा की थी और कहा था–"फिर उसकी आवश्यकता ही नही कि और लोग अपनी-अपनी भाषाओं को बिलकुल ही भूल जावें। उनमे वे कोई पुस्तक ही न लिखें। उनमे वे अपने विचार ही न प्रकट करें। वे यह सब कर सकते हैं। देशव्यापक भाषा के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि इस विस्तीर्ण देश मे जितनी भिन्न-भिन्न भाषाएँ प्रचलित हैं उनके उत्तमोत्तम ग्रन्थो का प्रतिबिम्ब देशव्यापक भाषा मे उतारा जाय।"[1]

गान्धी जी के हिन्दी प्रेम को राष्ट्र प्रेम का ही प्रतिरूप मानते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है —

गाँधी जी मातृभाषा के कितने प्रेमी और हिन्दी प्रचार के कितने पक्षपाती हैं, यह बात उनके लेखो और वक्तृताओ से अच्छी तरह प्रकट है। इस बात को वे देशोद्धार और देश उन्नति का प्रधान साधन समझते हैं।"[2] जयनाथ नलिन ने उनके महान योगदान को इस शब्दो मे व्यक्त किया है।

"हिन्दी भाषा को सवारने और निखारने का अमूल्य कार्य किया। उनसे पूर्व हिन्दी भाषा अस्थिर, व्याकरण के नियमो से अनभिज्ञ वाक्यगठन की दृष्टि से अशुद्ध, शब्दो के मनमाने प्रयोगो से विकृत थी। द्विवेदी जी के लेखन के पारस स्पर्श से उसमे प्रौढता एव प्राणवन्ता आ गई।"[3]

वास्तव मे द्विवेदी जी ने भाषा का जो आदर्श प्रस्तुत किया वह अपूर्व था। उनकी भाषा व्याकरण से अनुशासित है। सरल, छोटे, साधारण वाक्यो मे प्रयुक्त शब्द शुद्धता ने जहाँ एक ओर शब्दो के स्थिरीकरण एव एकरूपता को नियमित किया है वहाँ उसमे स्वाभाविक गति एव प्रभावी अभिव्यजना शक्ति का समावेश भी हुआ है। डा० लक्ष्मीनारायण सुधाशु जी ने भी द्विवेदी जी के महत्व को रेखाकित करते हुए लिखा है कि उनका सबसे बड़ा कृतित्व यह था कि उन्होने भाषा सम्बन्धी एक नया प्रतिमान ही प्रस्तुत किया। भाव और भाषा, विषय–वस्तु और उपादान, छन्द और रूप, गति और परम्परा की दृष्टि से साहित्य के क्षेत्र मे अनेक मुखिता के कारण जो अव्यवस्था और अस्थिरता आई, उनके समग्र जीवन की तपस्या उसी को व्यवस्थित और सुचारू रूप देने मे समर्पित हुई है।

१–डा० रामविलास शर्मा-महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण, पृ० १८३

२–आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—सरस्वती १९१८ मे लिखा लेख।

३–जयनाथ नलिन—हिन्दी निबन्धकार पृष्ठ १०३।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि द्विवेदी जैसे अद्वितीय व्यक्तित्व ने साहित्य एवं भाषा की विविध रूपो मे महान सेवा की। निस्सन्देह वे अभूतपूर्व परिश्रमी, कर्मठ व्यक्तित्व के धनी, लगनशील रचनाधर्मी, प्रतिभासम्पन्न सम्पादक, विवेकवान् भाषा परिष्कारी, उच्चकोटि के महान् विद्वान थे। उनके द्वारा किया हुआ हिन्दी साहित्य और भाषा के विकास और परिष्कार का कार्य उनका महान योगदान है। जो लेखको एव भाषाविदो के लिए सदैव प्रेरणा प्रदायक एव मार्गदर्शक बना रहेगा।

"महावीरप्रसाद द्विवेदी की अनुवाद कला" 'कुमारसम्भवसार' के परिप्रेक्ष्य में

डा० विजयपाल शास्त्री
प्राध्यापक, दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

महामनीषी महावीरप्रसाद द्विवेदी की सर्वतोगामिनी एवं सर्वङ्कषा प्रतिभा का मूल्यांकन साहित्य की किसी विशिष्ट विधा के निकषोपल पर स्थापित करके करना सचमुच बड़ा अन्यायपूर्ण होगा। उनकी शेमुषीधारा तो गद्यकाव्य के पथरीले और ऊबड़-खाबड़ अरण्यों में तथा पद्य काव्य की समतल एवं मनभावन उपत्यकाओं में समान रूप से प्रवाहित होती है। निबन्ध, प्रबन्ध, नाटक, एकांकी, कथा, कहानी, आख्यानक, आख्यायिका, संस्मरण, उपन्यास, इतिहास आदि समस्त गद्य के क्षेत्र को तथा खण्डकाव्य, स्फुटकाव्य, गीत आदि के द्वारा पद्यकाव्य के क्षेत्र को उन्होंने अपनी सरस रचनाओं से समृद्ध किया है। उनका शब्दकोष अक्षय है, रससृष्टि विलक्षण है, प्रकृतिसौन्दर्य की वर्णन चातुरी अलोकसामान्य है। थोड़े शब्दों में अधिक कहने की कला नितान्त कमनीय है तथा अध्येताओं के हृदयों को आवर्जित करने वाला उनका घटनानुकूल छन्दोविधान वस्तुतः बड़ा आह्लादक है। सम्प्रति हम उनकी उक्त काव्यपक्षीय क्षमताओं की दिङ्मात्र पर्यालोचना कुमारसम्भवसार के परिप्रेक्ष्य में करेंगे।

द्विवेदी जी ने महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भव' महाकाव्य के प्रथम पाँच सर्गों का पद्यानुवाद 'कुमार-सम्भवसार' नामक रचना में प्रस्तुत किया है। रचनाकार की मान्यता है कि कालिदासप्रणीत उक्त महाकाव्य के प्रारम्भिक पाँच सर्ग ही सर्वाधिक रमणीय हैं क्योंकि इन्हीं में रससम्राट् शृंगार की वह लोकोत्तर माधुरी प्रवाहित हुई है जो युवाओं की यौवनप्रभव उदात्त कान्त भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती है। जगन्माता गिरिजा के अप्रतिम रूपलावण्य को निरख जब महायोगीश्वर धीरधौरेय भगवान् शिव का धैर्य भी क्षण भर के लिये विचलित हो जाता है तो यह स्थिति रसज्ञ सहृदय जनों के हृदयों को आनन्द के किसी मदिरसागर में निमग्न कर देती है। अमन्द आनन्द की उस सुखद अवस्था की अनुभूति को लोक सामान्य बनाने के लिये ही महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कालिदास के कुमारसम्भव का भाषानुवाद करने का उपक्रम किया था।

यूँ तो भारतीय संस्कृति और सुरभारती के प्रति द्विवेदी जी का निसर्ग सिद्ध अनुराग और काव्य वैभव प्रत्येक पद्य रचना मे प्रस्फुटित हुआ है किन्तु कुमारसम्भवसार मे तो उनकी काव्यकला अपेक्षाकृत अधिक उज्ज्वल रूप रग मे विकसित होकर चतुर्दिक् विकीर्ण हुई है। यह केवल अनुवाद नही है अपितु कोमल कान्त पद विन्यास, कमनीय वर्णन शैली, गहन अनुभूति और नूतन कल्पना कौशल आदि अद्वितीय विशिष्टताओ के कारण यह अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाये हुए है। रस प्रवाह तो मूल की अपेक्षा इसमे द्विगुणित ही हुआ है, व्याहत कही नही हुआ।

किन्नर-किन्नरियो के विप्रलम्भ शृगार के अवसर पर मेघो की भूमिका प्रतिपादित करते हुए कालिदास ने केवल इतना कहा है कि—

"दरीगृह द्वार विलम्बि बिम्बा—
स्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति"—१/१४

अर्थात् "गुहारूप सुरत भवन के द्वार पर लटकने वाला मेघमण्डल वस्त्रापहार से लज्जित किन्नरियो के लिये परदा बन जाता है।" किन्तु द्विवेदी जी ने उक्त पद्य का अनुवाद करते हुए उसमे रति के कुछ अन्य रग भी भरे हैं। उन्होने कहा है कि किन्नरयुगल की रतिक्रिया केवल क्रीडा नही थी अपितु वह एक रतिसमर था। समर मे एक की पराजय तो होती ही है। पराजय से लज्जा का होना स्वाभविक ही है। उसी लज्जा को छिपाने के लिये मेघमण्डल मानो परदा बन गया है। देखिये यह कल्पना—

जिस पर्वत पर किन्नरबाला जब रतिसमर मचाती हैं।
वस्त्र खीचने से लज्जावश सकुच सकुच रह जाती हैं।
गुहा द्वार पर अनायास जब आँखें उनकी जाती हैं।
लटके देख मेघ परदे सम सब सकोच मिटाती हैं॥

कविवर श्री द्विवेदी जी ने कालिदास की काव्यगत विषयवस्तु को विशद करने के लिये कही शब्दो की व्यासशैली का अवलम्ब लिया है और कही समासयुक्त पदो से कहने का प्रयास किया है। मुख्य दृष्टिकोण यही रहा है कि किसी भी दशा मे रसभग न हो। शब्द गुम्फन की इस कला मे द्विवेदी जी को महारत प्राप्त है। अब देखिये न—

चन्द्र गता पद्मगुणान्न भुङ्क्ते
पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।

इस श्लोक के भाव को कवि ने "इकठौरी" शब्द के द्वारा कितने लाघव से स्पष्ट कर दिया है और उससे रस सृष्टि भी कितनी रमणीय हो गयी है—

होती नहीं कभी इकठौरी
शशि-सरोज-सुन्दरताई।
किन्तु उमा के मुख मे निज निज
दोनो ने छवि दिखलाई॥

अर्थात् चचल लक्ष्मी रात्रि मे पूर्ण चन्द्र को पाकर कमलगत सौरभ्यादि गुणो को प्राप्त नही करती और दिवस मे कमल को प्राप्त कर चन्द्रगत आह्लादकत्वादि गुणो को नही पाती, किन्तु सर्वकाल सुन्दर पार्वती के मुख को पाकर वह लक्ष्मी चन्द्र और कमल दोनो के ही आनन्द को पाती थी। इस भाव को द्विवेदी जी ने उक्त पद्य मे समस्त शैली मे बडी स्वच्छता से समाविष्ट कर दिया है।

अनुवाद वह प्रशस्य माना जाता है जिसमें शब्द-साम्य के साथ-साथ भावसाम्य भी समाविष्ट हो। द्विवेदी जी के पद्यानुवाद मे ये दोनो ही गुण विद्यमान हैं। कही-कही तो यह साम्य इतना स्पष्ट है कि उसे पढते ही मूल काव्य मन मे उपस्थित हो जाता है। कहीं-कही तो यह अनुवाद मूल से भी अधिक रस की सृष्टि करता है। कुछ उदाहरण देखिये—

ऊँचे स्वर से गान-समय मे
प्रचुर परिश्रम होने से।
कुछ-कुछ बिगड गयी जिस मुख पर
पत्रावली पसीने से॥

पुष्पासव पीने से जिस पर
घूम रहे दृग अरूणारे।
रसिक किन्नरो ने पत्नी के
चूमे मुख ऐसे प्यारे॥

प्रसाद गुण उत्तम अनुवाद कला का प्राण होता है। 'मखवा मूल बिडौना टीका' से युक्त अनुवाद रसिक पाठक के जी का जजाल होते है। रससृष्टि के स्थान पर रसभङ्ग उत्पन्न करके चित्त को व्याकुल करते हैं। प्रसाद गुण से युक्त अनुवाद मूल से भी अधिक चित्ताकर्षक बन जाता है। द्विवेदी जी की अनुवादकता इस गुण की धनी है। कुछ सुभाषितो के अनुवाद की यह रमणीयता देखिये—

कालिदास कहते हैं—

"शाम्येत् प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जन"

अर्थात् दुष्ट पुरुष उपकार के बदले उपकार करने से शान्त नही होता अपितु अपकार से शान्त होता है। इसका अनुवाद देखिये कितना हृदयहारी है—

उपकार न खल को कभी शान्त करता है।
अपकार मात्र तद्गर्व सर्व हरता है ॥

"अपने हाथो से रोपित, पालित और सर्वार्धित वृक्ष यदि आगे चलकर विषवृक्ष बन जाये तो उसको भी अपने हाथो से काट डालना बड़ा कठिन होता है" इस भाव को व्यंजित करने वाली "विष वृक्षोऽपि सवर्ध्य स्वयं छेत्तु मसाम्प्रतम्" इस सूक्ति के अनुवाद की प्रसादगुणता कितनी स्पृहणीय है, देखिये—

विषपादप भी यदि बड़ा किया जाता है।
उस पर भी नही कुठार दिया जाता है ॥

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भावानुकूल और प्रसङ्गानुकूल भाषा एव शैली को प्रयुक्त करने की दिशा मे भी प्रयास किया है। शृंगार रस की भाषा सरल और सुकोमल होती है तथा रौद्र वीर रस के वर्णन में शब्दगुम्फ थोडा ओजस्वी हो जाता है। कुमारसंभव मे इस परम्परा का पूर्णत. पालन किया गया है। उसी का अनुकरण द्विवेदी जी ने भी किया है। तपोभङ्ग के अपराध से क्रुद्ध हुए भगवान् त्रिलोचन ने मन्मथ को दण्ड देने के लिए अपना तृतीय लोचन खोल ही दिया। उससे निकली हुई प्रदीप्त ज्वाला ने कामदेव के शरीर को भस्मसात् कर डाला। यह रौद्र रस का प्रसग है। इसी रस के अनुरूप महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की शब्दयोजना बडी स्वाभाविकता को धारण कर रही है—

जिनका कोप विशेष बढ़ा था
तपो भग हो जाने से।
जिनका मुख दुर्दर्श हुआ था
भृकुटि कुटिल चढ़ाने से ॥
उन हर के तृतीय लोचन से
तत्क्षण ही अति विकराला।
अकस्मात् अग्नि स्फुलिङ्ग की
निकली दीप्तिमान् ज्वाला ॥

अब एक निदर्शन शृगार की कोमल एव कमनीय पदयोजना का भी देखिये। कालिदास कहते हैं—

मधु द्विरेफ. कुसुमैक पात्रे
पपौ प्रिया स्वामनुवर्तमान।
शृगेण च स्पर्श निमीलिताक्षीं
मृगीमकण्डूयत कृष्णसार. ॥

अर्थात् जब बसन्त ऋतु ने कैलास पर अपना मादक वातावरण विस्तारित किया तो काम के वेग से आवेष्टित भ्रमर अपनी प्रिया का अनुवर्तन करते हुए कुसुमरूपी एक

ही पात्र में मधुपान करने लगा। मृग और मृगी का युगल तो इतना कामोन्मत्त हो गया कि मृग ने अपने सींग से जब मृगी को खुजलाना प्रारम्भ किया तो स्पर्श के आनन्दातिरेक से मृगी के नेत्र बलात् निमीलित से होने लगे।

उक्त प्रसंग की साजसज्जा करने वाले निम्न शब्दसुमनों के सौरभ का भी आप आस्वादन कीजिये—

फूल रूप एक हीं पात्र में
भरा हुआ क्रीडा मकरन्द।
भ्रमरी के पीने के पीछे
पिया भ्रमरवर ने स्वच्छ द॥

छूने से जिस प्रिया मृगी ने
सुखवश किये विलोचन बन्द।
एक सींग से उसे खुजाया
कृष्णसार मृग ने सानन्द॥

इस प्रकार हमने देखा कि महावीरप्रसाद द्विवेदी की काव्यप्रतिभा भी उतनी ही प्रखर है जितनी वह गद्य के क्षेत्र मे है। दोनो ही साहित्य विधाओं मे उनकी मेधा का लीला-विलास अप्रतिहत है। अनुकर्त्ता अपनी अनुकरण की क्रिया मे कितना भी सावधान क्यो न हो उसका व्यक्तित्व और उसका अपना वैचारिक दृष्टिकोण कही न कही उसकी अनुकृति मे समाविष्ट हो ही जाता है। कुमारसम्भवसार की अनुवादकला मे भी द्विवेदी जी का अपना सदय हृदय, और उसमे निगूढ भक्तिरसोद्रेक बरबस छलक पडा है। उनके व्यक्तित्व के इसी वैशिष्ट्य ने उनकी अनुवादकला को चिरनवीनता प्रदान की है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके समकालीन साहित्यकारों पर आर्य समाज का प्रभाव

—डा० सत्यव्रत शर्मा 'अजेय'
उपाचार्य—गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर

आर्य समाज और उसका हिन्दी गद्य-शैली के विकास में योगदान—

सन् १८७५ मे स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् १८२४-१८८३) ने आर्य समाज की स्थापना कर हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार किया। आधुनिक हिन्दी खडी बोली के निर्माता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) तथा उनके समकालीन साहित्यकारो पर भी आर्य समाज का यत् किञ्चित् प्रभाव पड चुका था, क्योकि उस समय आर्य समाज का इतना व्यापक प्रचार था कि उससे प्रभावित हुये बिना रहा नही जा सकता था। राष्ट्र-प्रेम, आर्य-भाषा (हिन्दी) प्रेम और विधवा-विवाह आदि अनेक विषय स्वामी जी ने ऐसे सुझाये थे कि वे सभी इन साहित्यकारो को प्रिय लगे। वस्तुत धार्मिक दृष्टि से भी आर्य समाज का बहुत महत्त्व है। उसने धार्मिक आन्दोलन छेड कर भारतीय नवोत्थान को विशुद्ध दृष्टिकोण प्रदान किया।

स्वामी जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' लिखकर शुद्ध सस्कृतनिष्ठ हिन्दी का स्वरूप प्रस्तुत किया, जिससे गद्य शैली का विकास हुआ।

"आर्य समाज की भाषा से हिन्दी भाषा मे एक नई शैली का प्रतिपादन हुआ। सत्यार्थ प्रकाश (१८७४) मे स्वामी दयानन्द ने जैन, सिक्ख आदि हिन्दू - सम्प्रदायो तथा इस्लाम और ईसाई मतो की तीव्र आलोचना की है। इससे भाषा मे गहन से गहन विषयो पर भी वाद-विवाद करने की शक्ति आ गई।"[1]

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—

हिन्दी साहित्य के इतिहास मे भारतेन्दु-युग के पश्चात् द्विवेदी-युग का आरम्भ होता है। महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८) ने हिन्दी खडी बोली विकास को नवीन

१—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ-१२२

दिशाएँ दी और उनसे पूर्व जो भाषा खड़ी बोली काव्य के लिए अनुपयुक्त समझी जाती था उसमे नवीन चेतना का सचार कर उसमे प्राण-प्रतिष्ठा की—

"मृत हिन्दी को शक्ति से, लाकर दी सजीवनी ।
महावीर आचार्य की, महावीर सी जीवनी ॥ "[1]

द्विवेदी जी स्वय भी अच्छे कवि थे, इन्होंने अपने काव्य मे मराठी की वर्णन- प्रधान शैली अपनाई । इनके काव्य मे देशभक्ति, समाज-सुधार तथा उपदेशात्मकता विद्यमान है । फिर भी उनमे आचार्यत्व एव नेतृत्वशक्ति मुख्य रूप से थी —

'द्विवेदी जी ने स्वय समकालीन गद्य-पद्य साहित्य की विविध प्रवृत्तियो के क्षेत्र मे साहित्यकारो का नेतृत्व किया ।'[2]

द्विवेदीयुगीन कवियो के काव्य मे नवजागरण की शख ध्वनि है, लोक-प्रतिष्ठा और स्वीकृति है—

"पश्चिम के सम्पर्क से जो बहुविध प्रमन्थन आरम्भ हुआ, उससे भारतीय समाज बड़ी तेजी से बदलने लगा । सामाजिक क्षेत्र मे विचारो के इस खमीर ने नयी केन्द्रोन्मुख प्रवृत्तियो को उकसाया, विश्रृखल और विभाजित समाज को पुन सगठित करने की भावना एकाधिक सामाजिक आन्दोलनो मे प्रकट हुई । आर्य समाज और ब्राह्मसमाज दोनो उभय क्षेत्रीय आन्दोलन थे, उनका धार्मिक पक्ष भी नगण्य नही था पर विशेष महत्त्व उनकी सामाजिक भावना का ही था...... दोनो ही क्षेत्रो मे रूढि-भार से मुक्ति का प्रयत्न था ।"[3]

द्विवेदी जी ने भाषा का परिमार्जन कर उसे सस्कृतस्वरूप प्रदान किया । इसके मूल मे उनकी कर्मठता, दृढता और विवाद-सन्नद्धता है । उनकी भाषा सम्बन्धी अवधारणाओ को उनके मण्डल के कवियो ने ग्रहण कर उसे फैलाया और प्रतिष्ठित किया ।

इनके द्वारा सम्पादित पत्रिका 'सरस्वती' अपने आप मे एक सस्था थी । गद्य के साथ पद्य के लिए भी इन्होने खड़ी बोली की निर्विकार उपयोगिता सिद्ध की । सशोधन के द्वारा अनेक कवियो और लेखको का पथ प्रशस्त किया । भाषा-परिमार्जन मे कामताप्रसाद गुरु, किशोरीदास वाजपेयी, गौरीशकर मिश्र और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने द्विवेदी जी का हाथ बँटाया ।

"द्विवेदी काल मे राष्ट्रीय भावना और आदर्श की रूपरेखा बिल्कुल साफ हो गई थी । अब तक स्वामी दयानन्द ने धार्मिक दृष्टि से भारतीय गौरव की स्थापना कर दी

१—डा० सत्यव्रत शर्मा 'अजेय', दैनिक प्रताप, २६ अप्रैल ५२, पृष्ठ—०३

२—डा० प्रतापनारायण टण्डन, हिन्दी साहित्य का प्रवृत्तिगत इतिहास, खण्ड १ : पद्यभाग, पृष्ठ-३१५ ।

२— सच्चिदानन्द वात्स्यायन, हिंन्दी साहित्य एक आधुनिक परिदृश्य, पृष्ठ—४५

थी। ..... फलस्वरूप इस काल मे प्राचीन सस्कृति का पुनर्जागरण हुआ। ... इस राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ हिन्दी तथा हिन्दू का गौरव बढा। .... भारतेन्दु काल में रुढियो का विरोध करना सुधार तक सीमित था परन्तु अब साहित्य मे नाना आदर्शों की सृष्टि हुई और उसमे एक स्वच्छन्द भावना का विकास होने लगा।... अब साहित्य मे मध्यम वर्ग के साथ-साथ निम्नवर्ग— किसान, पीडित एव दलितो का चित्रण होने लगा।"[1]

द्विवेदी और आर्य समाज के तत्कालीन कर्णधार —

आचार्य द्विवेदी ने सरस्वती का सम्पादन सन् १६०३ से १६२० तक किया। द्विवेदी जी कवि, लेखक और सम्पादक के अलावा सुघर समीक्षक भी थे। उनकी समीक्षा शक्ति से गुरुकुल काँगडी के सस्थापक युगपुरुष स्वामी श्रद्धानन्द जी भी प्रभावित हुये थे। प०पद्मसिंह शर्मा ने इसकी सूचना द्विवेदी जी को पत्र लिखकर इस प्रकार दी थी—

एस० डी०पी०प्रेस, जलधर सिटी

२८-४-०५

"......'हिन्दी शिक्षावली' की समालोचना मैंने ला० मुशीराम जी (जो इधर की आर्य समाजो के नेता और योग्य पुरुष हैं) को दिखलाई, वे उसे पढ़कर बडे ही प्रसन्न हुये और कहने लगे कि ऐसे विद्वान्, योग्य पुरुष हमे नही मिलते।

उनकी प्रेरणा से कुछ हिन्दी पुस्तकें आपकी सेवा मे समालोचनार्थ भेजी जाती हैं। उनकी इच्छा है कि 'हिन्दी शिक्षावली' की तरह इनकी समालोचना पुस्तकाकार लिखी जाय। पण्डित जी ! बडा अनर्थ हो रहा है। ये पुस्तकें यहाँ के 'कन्या महाविद्यालय' मे पढाई जाती हैं और यहाँ की देखादेखी आर्यसमाजो के आधीन जितनी कन्या पाठशालाएँ हैं, उनमे भी इनका प्रचार है। हाँ, इस अन्याय का कुछ ठिकाना है ! जिन लोगो को शुद्ध नाम तक लिखना नही आता वे ग्रन्थकर्ता बने बैठे हैं।"

—पद्मसिंह[2]

इसी प्रकार उनके कुछ पत्रो के कतिपय अश दृष्टव्य हैं जिनसे 'सरस्वती' और आर्यसमाजियों की परस्पर नोक-झोंक का भी बोध होता है।

अजमेर, २२-६-०८

"........'सरस्वती' के 'वेद' और 'आर्य' के लेखो ने आर्यों मे खलबली डाल दी है। ८-१० चिट्ठियाँ मेरे पास आ चुकी हैं। 'आर्यमित्र' आप पढ़ चुके। मैं भेजने को ही था। 'प्रचारक' मे भी एक नोट निकला है"

—पद्मसिंह शर्मा[3]

१—डा० शिवकुमार शर्मा, हिन्दी साहित्य . युग और प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ-४४५-४४६

२—द्विवेदी युग के साहित्यकारो के कुछ पत्र, पृष्ठ-७५-७६

३—वही, पृष्ठ—१५६-१५७

"........'प्रचारक' में कोई सारगर्भित बात नहीं थी, सिर्फ 'सरस्वती' के लेखो का जिक्र करके आर्य प्रतिनिधि सभा से 'सरस्वती' के मुकाबले का पत्र निकालने की अपील की थी। —पद्मसिंह[1]

स्वामी श्रद्धानन्द ने ही मिस्टर गाँधी को ८ अप्रैल १९१५ मे अपनी प्रथम भेंट मे 'महात्मा गाँधी' कह कर सम्बोधित किया था। इन्होंने सन् १९२० मे दिल्ली से 'श्रद्धा' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला। १९२४ मे इन्होने अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' लिखी। हिन्दी की २४ पुस्तकें आपकी प्रकाशित हुई। आपके हिन्दी-प्रेम के सम्बन्ध मे महात्मा गाँधी का कथन है—

"गुरुकुल शिक्षा के क्षेत्र मे उनका महान योगदान है......वे हिन्दी माध्यम से पढ़ाते थे। ......इस विषय मे मुझे जो पत्र भेजा था, वह हिन्दी मे था।...... १९१५ में हम दोनो उनके प्रिय गुरुकुल मे मिले......प्राचीन भारतीय सस्कृति और हिन्दी के प्रति उनका प्रेम असीम था।"[2]

इसी प्रकार राजर्षि टण्डन भी स्वामी जी के हिन्दीप्रेम के प्रशसक थे। उनके हिन्दीप्रेम का मूल्यांकन टण्डन जी ने इस प्रकार किया है :

"प्रात स्मरणीय स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान को अनेक वर्ष हो गये। गुरुकुल की स्थापना कर और उसमे हिन्दी को मुख्य स्थान दे कर उन्होने शिक्षा सम्बन्धी दूरदर्शिता और सच्ची राष्ट्रीयता का रास्ता तथा प्राणिमात्र के लिये सच्चा प्रेम दिखाया था।"[3]

स्वामी जी की हिन्दी-सेवाओ को देखते हुये ही हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने उन्हें ६ दिसम्बर सन् १९१३ को भागलपुर मे आयोजित हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के चौथे अधिवेशन का सभापति बनाकर अपनी कृतज्ञता प्रकट की। इस तथ्य को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने इस प्रकार स्वीकार किया है

"स्वामी श्रद्धानन्द जी से प्रथम परिचय का सौभाग्य मुझे भागलपुर मे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समय प्राप्त हुआ। उस समय तक स्वामी जी ने सन्यास नही लिया था और महात्मा मुशीराम जी के नाम से ही प्रसिद्ध थे। गुरुकुल की स्थापना करके राष्ट्रीय पद्धति से शिक्षा देना उन्होने पहले ही आरम्भ कर दिया था और गुरुकुल का काम भी शान से चल रहा था। आपके हिन्दीप्रेम और हिन्दीसेवा को देखकर ही सम्मेलन ने सभापति के पद पर आपका निर्वाचन किया था। सम्मेलन को जिस उत्तमता के साथ

१—वही, पृष्ठ—१५७

२—महात्मा गाँधी, स्वामी श्रद्धानन्द एक विलक्षण व्यक्तित्व, पृष्ठ– २७७

३—पुरुषोत्तमदास टण्डन, वही, पृष्ठ—५५१

आपने निभाया, वह आज भी अच्छी तरह याद है।"[1]

१मार्च १९०७ में स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल कांगड़ी से 'सद्धर्मप्रचारक' हिन्दी में निकालना आरम्भ किया। उस समय उर्दू के स्थान पर हिन्दी को प्रतिष्ठित करना बहुत दुरूह था

"ये ही थे जिन्होंने अपने उर्दू पत्र 'सद्धर्म प्रचारक' को हिन्दी में किया।"[2]

हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक समीक्षापद्धति के जनक आचार्य प० पद्मसिंह शर्मा, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के बहुत निकट थे। इन्होंने १९२८ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन मुजफ्फरपुर (बिहार) का सभापतित्व किया। ये प्रथम गुरुकुल कागडी और पश्चात् गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर मे प्राध्यापक रहे। सन् १९१३ 'बिहारी भाष्य' पर इन्हे मगलाप्रसाद पारितोषिक मिला। 'पद्म पराग' और 'प्रबन्ध मजरी' इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनके सम्पादन मे ज्येष्ठ शुक्ल सम्वत १९६६ वि० को 'भारतोदय' का प्रथम अ क प्रकाशित हुआ।

महाविद्यालय ज्वालापुर के कुलपति आचार्य नरदेव शास्त्री ने भी हिन्दी की सेवा की और आत्मकथा लेखनशैली को एक नया मोड दिया। ये देहरादून मे हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समारोह के स्वागताध्यक्ष थे। ये सम्वत् १९९३ मे नागपुर मे 'दर्शन-परिषद्' के सभापति भी रहे। इन्होने अपने लेखन-विषयो के सम्बन्ध मे स्वय लिखा है·

"......हमारे लेख प्राय सभी विषय मे रहे, विवादात्मक, सवादात्मक, उद्बोधनात्मक, सामाजिक, साहित्यिक, सास्कृतिक, शैक्षिक, धार्मिक, राजनीतिक, यात्रा सम्बन्धी, देश-भ्रमण, विशिष्ट महोत्सव विवरण और वीर चरित्र इत्यादि विषय मे रहे।"[3]

पं०पद्मसिंह की प्रेरणा से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी गुरुकुल महाविद्यालय में दो मास तक रहे, पर वे स्वास्थ्यलाभ हेतु यहाँ आकर ठहरे थे। उन्होने उस समय यही से 'सरस्वती' का सम्पादन कार्य भी सम्पन्न किया था। इसकी सूचना नरदेव शास्त्री ने आत्मकथा के पृष्ठ २८३ पर, 'समय-समय पर महाविद्यालय मे जो प्रमुख नेता या विद्वान् आये उनकी नामावली' के अन्तर्गत अ कित की है।

आचार्य महावीरप्रसाद के मन मे उक्त सज्जनो के सम्पर्क में आने से आर्य समाज के प्रति उदात्त भाव थे। वे भारत को स्वामी दयानन्द के सपनो का भारत बनाना चाहते हैं। इसी लिए उसे अपने पूर्व स्वरूप का बोध कराते हुये वे कहते हैं—

१—डा० राजेन्द्रप्रसाद, वही, पृष्ठ-५५०

२—नरदेव शास्त्री, आत्मकथा अर्थात् आपबीती—जगबीती, पृष्ठ– २५०

३—नरदेव शास्त्री, वही, पृष्ठ २८६

"जो थे प्रथम्य तुम पहले कौगिभाम।
विज्ञान और बल-विक्रम के निधान ॥
खोया सभी कुछ न हाय तुम्हे हया है।
हे देश ! शेष तुममे रह क्या गया है ?"

आचार्य द्विवेदी हिन्दी मे ही नही सस्कृत मे भी काव्य-रचना करते थे। गुरुकुल महाविद्यालय की प्रशसा मे उन्होने पाँच पद्य लिखे थे। उदाहरणार्थ एक पद्य प्रस्तुत है -

"छात्रालयो वा पठनालयो वा
शिक्षाप्रकारार्यमतप्रचार ।
अदृष्टपूर्वञ्च विलक्षणञ्च,
विद्यालयेऽस्मिन् खलु सर्वमेव ॥"[1]

गुरुकुल महाविद्यालय के सस्थापक स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती की हिन्दी सेवाएँ भी अविस्मरणीय हैं। ३० जून सन् १८८६ ई० मे इन्होने काशी जी से 'तिमिर नाशक' पत्र हिन्दी मे निकाला। उसका आदर्श वाक्य था

"स्वारथ भारत मे बसो, जीवन भयो अकाज।
खोयो कुमति विलास मे, धर्म,जीव औ लाज ॥"

इन्होने २५० ट्रैक्ट लिखे जिनका प्रकाशन 'दर्शनानन्द ग्रन्थ सग्रह' शीर्षक से हो चुका है।

द्विवेदीयुग के कवि और उन पर आर्य समाज का प्रभाव –

द्विवेदी जी के समकालीन कवियो मे कुछ का समावेश तो उनके मण्डल के अन्तर्गत है, और कुछ मण्डल से अलग रहकर बृजभाषा तथा खडी बोली मे पुराने और नये ढग की रचना करते रहे।

द्विवेदी मण्डल के कवियो मे श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, प० गिरिधर शर्मा और लोचनप्रसाद पाण्डेय आदि हैं।

द्विवेदी-मण्डल से बाहर के कवियो मे राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', नाथूराम शर्मा 'शकर', गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', स्वामी नारायणानन्द सरस्वती, सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पाण्डेय, जगदम्बाप्रसाद 'हितैषी' और अनूप शर्मा आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

उक्त दोनो ही प्रकार के कवियो पर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव पड़ा, इनमें से कुछ तो पौराणिक धर्म को छोडकर आर्यसमाजी ही बन गये थे। कुछ प्रमुख कवियों

१—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, महाविद्यालय का ५०वर्षीय इतिहास, भाग-२, पृष्ठ—१३५।

की कविताएँ यहाँ प्रस्तुत हैं, जिन पर आर्यसमाज और उसके निर्माताओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हुआ है।

श्रीधर पाठक—(१८५६-१९२८ ई०)

हिन्दी काव्य में ये स्वच्छन्दतावाद के प्रवर्तक हैं। इन्होंने लावनी की लय पर गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' के आधार पर 'एकान्तवासी योगी' की रचना की।

"स्वर्गीय वीणा" में उन्होंने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण संकेत किया जिसके तालसुर पर यह सारा विश्व नाच रहा है।"[1]

लावनी की बहर 'शिकस्ता' में लिखी गई इस स्वर्गीय वीणा की एक तान सुनिए जो ब्रह्म की माया के दर्शन करा रही है.

"भरे गगन में हैं जितने तारे,
हुये हैं बदमस्त गत पै सारे।
समस्त ब्रह्माण्ड भर को मानो,
दो अंगुलियों पर नचा रही है॥"

पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर'—

इनका जन्म १८५६ ई० में हुआ। ये पक्के आर्यसमाजी थे। इनकी कृतियों में 'अनुराग रत्न', 'शंकर सरोज' और 'गर्भरंडा- रहस्य' आदि प्रमुख हैं।

'गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर की 'आर्य विद्वत् सभा' ने इन्हें 'कविता-कामिनी-कान्त' की उपाधि से विभूषित किया था।"[2]

"आर्य समाज की ओर आकर्षित होने पर इन्होंने वैदिक धर्म के प्रचारार्थ अनेक लावनियाँ लिखी हैं, यथा आर्य समाज का अभ्युदय, आर्यसमाज के दस नियम, धर्मवीरों की कर्मवीरता, मायात्मक लावनी, लावनी : दयानन्द, लावनी : जय दयानन्द, लावनी सामाजिक सुधार आदि।"[3] आर्य समाज की महत्ता पर शंकर जी की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"निर्दोष अर्थ वेदों के जान, जनाये।
मन्तव्य महापुरुषों के मान, मनाये॥
खोले गुरुकुल, कालेज अनेक बनाये।
कुलहीन दीन अगणित अनाथ अपनाये॥

१—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, १६वाँ संस्करण, पृष्ठ–५७७।
२—डा० सत्यव्रत शर्मा 'अजेय', कानपुर का लावनी साहित्य, पृष्ठ–४६३
३–वही, पृष्ठ—४६३–४६४।

प्रतिनिधि-मंडल का भाग भलो को भाया।
समझो समाज ने क्या-क्या कर दिखलाया॥"[1]

हिन्दी -जगत् मे शकर जी के सम्बन्ध मे यही प्रबल धारणा है कि :

"......आप आर्य समाजी थे, इस कारण आपके काव्य मे उपदेशात्मकता की छाप अधिक आ गई।"[2]

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—

इनका जन्म सन् १८६५ ई० मे तथा परलोकवास १६४१ ई० मे हुआ। 'प्रियप्रवास' इनकी प्रसिद्ध, प्रौढ, प्राञ्जल रचना है, इसमे राधा की उक्तियो मे राष्ट्र-हित सन्निहित है, यथा—

'प्यारे जीवें जगहित करें, गेह चाहे न आवें।'

इनकी दो पंक्तियाँ देखिए—

"ए भारत का मुख उज्ज्वल करने वालो।
सोचो समझो अपना घर देखो-भालो॥"[3]

स्वामी नारायणानन्द सरस्वती—(सन् १८८३-१६५४ ई०)

'लावण्य लता' इनकी प्रसिद्ध काव्यकृति है।

"वे सदैव स्वर्णिम ऊषाकाल के उदय के प्रति आशान्वित रहे और उन्होने अपने काव्य के माध्यम से पराधीनता के पाश मे जकडे पडे भारतीय जन-मानस मे नव-जागरण, नवोन्मेष, नवोत्साह एव नवीन नैतिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक भावो-र्मियो का सुखद सचार किया।"[4]

स्वामी जी की रचनाओं के विषय मे सनेही जी का मत है –

"......आपने अपनी प्रतिभा का सदुपयोग करके ऐसे ख्यालो की रचना की जो नीति, धर्म और ज्ञान, वैराग्य, भक्ति सम्बन्धी विविध विषयो से पूर्ण हैं।"[5]

वेदो की महिमा पर आपने लिखा—

जो आज भारतनिवासियो मे,
यथार्थ वेदो का ज्ञान होता।

१–शकर सरोज, सन्दर्शांकित भजन-भास्कर, तृतीय सस्करण, पृष्ठ- १७४

२–विजयेन्द्र स्नातक, क्षेमचन्द्र 'सुमन', हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति, पृष्ठ–११५

३–काव्योपवन, पृष्ठ–१६६

४–सुधीरकुमार शर्मा, स्वामी नारायणानन्द सरस्वती व्यक्तित्व एव कृतित्व, पृष्ठ-२

५–गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही,' लावण्य लता, भूमिका-भाग, पृष्ठ-२

जो अपने गौरव का ध्यान होता,
तो सर्व देशो मे मान होता ।।"

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'—

इनका जन्म सन् १८८३ में हुआ। इनकी प्रसिद्ध रचनाओं में—कृषक-क्रन्दन, प्रेम-पचीसी, कुसुमांजलि, त्रिशूल-तरंग आदि प्रमुख हैं। ये 'त्रिशूल' उपनाम से राष्ट्रीय रचना लिखते थे। इनका आग्रह वस्तुपक्ष पर अधिक रहता था। 'सुकवि' मासिक पत्र से इन्होने सैकड़ो कवियो को पथ दिखलाया। 'स्वदेश' पत्र का आदर्श वाक्य आपने ही लिखा था—

"जो भरा नही है भावो से, जिसमे बहती रसधार नही।
वह हृदय नही है, पत्थर है, जिसको 'स्वदेश' से प्यार नही ।।

ज्ञान और विधान कैसा होना चाहिए, इस सम्बन्ध में आपका मन्तव्य है—

दिला सके जो न मुक्ति हमको,
वो ज्ञान हम ले के क्या करेंगे।
गिराये जो आत्मा को, ऐसा—
विधान हम ले के क्या करेंगे ।।"

मैथिलीशरण गुप्त—(सन् १८८६–१९६५ ई०)

इन्होने मानवता के प्रति अपना आग्रह काव्य मे व्यक्त किया है। ये प्राचीनता और नवीनता के बीच की कड़ी हैं। इनकी रचनाओ मे 'भारत-भारती' 'साकेत' और 'गुरुकुल' आदि मुख्य हैं। 'साकेत' के अष्टम सर्ग मे अस्पृश्यता-निवारण और साम्य की स्थापना के भावो से मंडित सीता जी की उक्ति देखिए—

"ओ भोली कोल किरात भिल्ल बालाओ।
मैं आप तुम्हारे यहाँ आ गई आओ ।।
मुझको कुछ करने योग्य काम बतलाओ।
दो अहो ! नव्यता और भव्यता पाओ ।।"

पं० रामनरेश त्रिपाठी—

इनका जन्म सन् १८८९ मे हुआ। स्वप्न, पथिक और कविता-कौमुदी आपके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। कविता-कौमुदी पर शंकर जी ने यह सम्मति दी थी—

"पंडित रामनरेश त्रिपाठी।
लूट्यो सुयश मारि कृति-लाठी ।।"

गोरक्षा पर इनकी लावनी का अंश देखिए—

"हे हे हिन्दू, हे आर्य, यवन, ईसाई।
सुन लो गोमाता की पुकार हे भाई ।।

गोमाता का हो चला निरादर जब से।
भारत की काया हुई निकम्मी तब से ॥
बल, वीर्य, ज्ञान, गुण रूठ गये हैं सब से ॥
घट गई आयु, सुख मिले कहो किस ढब से ॥

दारुण दुकाल पडने की बारी आई।
सुन लो गोमाता की पुकार हे भाई ॥"

रामचरित उपाध्याय ने रामकृष्ण को अवतार न मानकर श्रेष्ठ मानव के रूप मे ही उन्हे स्वीकार किया है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'रामचरित चिन्तामणि' है, इसमे आपने सम्पूर्ण कथानक को राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है।

गिरिधर शर्मा ने ऋतुवर्णन और प्रभातवर्णन कुछ नये ढग से किया है। इन्होने कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर के गीतो के अनुवाद मे श्रीधर पाठक के 'सान्ध्य-अटन' मे प्रयुक्त अभिनव छन्द के समान एक नवीन छन्द की भी परिकल्पना की थी।

लोचनप्रसाद पाण्डेय ने भारत के देवीरूप पर अनेक सुन्दर रचनाएँ लिखी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के माध्यम से धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र मे जो भारतवर्ष की उच्चता प्रतिपादित की, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके समकालीन साहित्यकारो, कवियो और लेखकों पर उसका विशेषरूप से प्रभाव पड़ा।

संस्कृत पद्यसंरचना में
आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का प्रतिभान

—आचार्य वेदप्रकाश शास्त्री
रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

यद्यपि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की सर्वजन विदित एवं वन्दित युगीनपरम्परा के महानतम उन्नायको मे अद्वितीय रहे हैं । उनके सारस्वत व्यक्तित्व का प्राश्रय प्राप्त करने वाला तात्कालिक हिन्दी जगत द्विवेदी युग के नाम से कीर्तिमान होता हुआ हिन्दी भाषा के अध्येताओ के लिए उत्प्रेरक रहा है । तथापि द्विवेदी जी की सहज निष्ठा सस्कृत के प्रति थी । सम्भवत सस्कृत का वरदपुत्र होना ही उनकी हिन्दी सेवावृत्ति का कही मूल कारण रहा हो । द्विवेदी जो की साहित्यिक प्रवृत्ति प्रतिपद सस्कृत के प्रति उन्मुख होती हुई दृष्टिगत होती है । अतएव उनकी सस्कारमयी पावमानी वाक् यथा अवसर सस्कृत पद्य रचना का नेपथ्य धारण कर सहृदय के हृदय का अनुरञ्जन करने मे पूर्ण सक्षम है । वर्तमान में द्विवेदी जी की सस्कृत कविता विभिन्न शीर्षको पर सप्राप्त है । उनकी कविता मे कारयित्री प्रतिभा का समुज्जृम्भण बडे ही नैसर्गिक स्वरूप मे परिलक्षित होता है । जनवरी १८८५ मे द्विवेदी विरचित शिवाष्टक के दो पद्य यहा उद्धृत किए जा रहे हैं जिनमे भावगत सौन्दर्य, भावबोध, आलकारिक सन्निवेश तथा रसप्रवणता का समन्वय पाठक को अनायास ही चमत्कृत कर देता है । दोनो ही पद्यो मे भगवान् शकर के प्रति प्रणति की गई है—यथा—

शीतांशुशुभ्रकलया कलितोत्तमाङ्गम्
ध्यानस्थित धरणिभृत्तनयार्चित तम् ।
कालानलोपम हलाहल कृष्णकण्ठम्
विश्वेश्वर कलिमलापहरं नमामि ।।

द्विवेदी जी उक्त पद्य मे शकर को प्रणाम करते हैं किन्तु उस शकर को जिसने शीतांशु की शुभ्र कला को उत्तमाङ्ग पर धारण किया है, जो ध्यानमग्न हैं, हिमालयतनया से अर्चित हैं, कालवह्नि के सदृश कालकूट का पान करने से जिनका कण्ठ नीला हो गया है, तथा जो विश्वेश्वर है एव कलियुग के तामस से मुक्ति दिलाने वाले हैं । यहा पर कवि ने चन्द्र के लिए शीतांशु तथा ललाटपार्श्व के लिए उत्तमाङ्ग शब्द का प्रयोग करके जहा पाठको को किसी प्रतीयमान अर्थग्रहण के लिए प्रेरित किया है, वही हलाहल को कालानलोपम कहकर सादृश्य की यथातथ्यता को प्रकट किया है ।

अग्रिम पद्य में द्विवेदी जी शकर को इसलिए प्रणाम करते हैं कि वे जगत के रक्षण मे निरत हैं, दया से जिनका हृदय आर्द्र है अतएव उन्होने गरल पान करके गरलोद्गत भय का भी हरण किया। यदि वे इतने दयालु न होते तो देवासुर सहित यह त्रैलोक्य भस्मीभूत हो जाता यथा—

त्रैलोक्यमेतदखिल ससुरासुर च,
भस्मीभवेद्यदि न यो दययार्द्रचित्त ।
पीत्वाऽहरद्गरलमाशु भय तदुत्थम्
विश्वावनैक निरताय नमोऽस्तु तस्मै ॥

१८८६ मे जनवरी मास मे द्विवेदी जी ने प्रभातवर्णन को अपने काव्य प्रतिभोन्मेष का विषय बनाया। प्रभातवर्णन मे श्री द्विवेदी का उत्प्रेक्षण नितान्त नैसर्गिक एव मनोवैज्ञानिक है, यथा—

ममाचिरात् सम्भविता समाप्ति
शुचा हृदीतीव विचिन्तयन्ती
उष प्रकाशप्रतिभा मिषेण
विभावरी पाण्डुरतां बभार ॥

यहा रात्रि को यह भान हो गया है कि शीघ्र ही उसका स्वरूप समाप्त होने वाला है अत वह दुःखी होकर अपने हृदय मे चिन्ता कर रही है अतएव उषा काल की प्रकाशप्रतिभा के व्याज से विभावरी ने पाण्डुवर्ण को प्राप्त कर लिया है। यहा पर पाण्डुरता का हेतु चिन्ता विद्यमान है अत हेतूत्प्रेक्षा है किन्तु पाण्डुरता का धारण उषाकाल की प्रकाशप्रतिभा के व्याज से हो रहा है। अत सापह्नवोत्प्रेक्षालकार का अत्यन्त रमणीक उदाहरण है। इसी प्रकार द्वितीय पद्य मे भी कवि ने हृदयावर्जक अलकार का प्रयोग अपृथक्यत्ननिर्वर्त्य स्थिति मे किया है—यथा—

क्व मामनाहृत्य निशान्धकार.
पलाय्य पाप किलयास्यतीति ।
ज्वलन्निव क्रोधभरेण भानु
अङ्गाररूप सहसाऽविरासीत् ॥

हे पापी, निशा के अन्धकार मेरा अनादर करके तुम भाग कर कहा जाओगे इस प्रकार क्रोध ज्वाला से जलता हुआ सा सूर्य दहकते हुए अङ्गारे के रूप मे प्रकट हुआ। यहा पर ज्वलन्निव मे उत्प्रेक्षा तथा अङ्गार रूप मे उपमा है किन्तु दोनो का सकर है क्योकि दोनो ही एक दूसरे की सापेक्षता मे शोभावर्धक हैं। यहा सूर्य का वीर रूप भी प्रकट है अत. वीर रस की निष्पत्ति भी यहा प्रतीयमान है।

द्विवेदी जी ने सन् १८६८ मे "कान्यकुब्जलीलामृतम्" के नाम से कुछ सामाजिक रचना भी करी। लगभग ४८ पद्य उन्होने तात्कालिक समाजगत रूढियो को अभिलक्षित

करके निर्मित किए। जिनमे पण्डितों के उस वर्ग की ओर तीखा वाक् प्रहार किया है जो वेशभूषा से तो सुसज्जित है, वार्तालाप मे वाचाल है किन्तु तप और स्वाध्याय की प्रकृति से बहुत दूर है। शास्त्रचर्चा मे जो लोग मौन धारण किए रहते हैं किन्तु विवाह सस्कार के समय मे पैसा पाने के लिए वाक् पाटव का प्रदर्शन करते हैं। ऐसे पण्डितो पर द्विवेदी जी ने अपने वाक् प्रहार को शिथिल नही किया है, यथा—

सर्दैवशुल्काहणपीतवर्ण—
पाटीरपङ्काबृत सर्वभाल ।
अभूतलालम्बि दुकूल धारिन्
श्री कान्यकुब्ज द्विजते नमोस्तु ॥

यथा वा—

शास्त्रीयवार्तासु भवत्यहो ते
मुखे रसज्ञा किल कीलितेव ।
स्थिते तु वैवाहिक भाषणे त्वम्
आविष्करोष्यद्भुत वाक् पटुत्वम् ॥

द्विवेदी जी की सस्कृत रचना क्वचित्-क्वचित् उनके स्तुतिकर्तृत्व की ओर भी इ गित करती है परन्तु उनका स्तवनकर्तृत्व चारणवृत्ति का पोषक नही है अपितु गुणदोषो के यथार्थ चित्रण का निर्दुष्ट एव प्राञ्जल रूप है। फरवरी १८९८ मे द्विवेदी जी ने "समाचार पत्र-सम्पादक स्तव." के नाम से कुछ पद्यो की सरचना करके सपादक के गौरवमय व्यक्तित्व की व्याख्या की है। निम्न उद्धृत दो पद्यो मे उन्होंने सम्पादक के प्रशसनीय गुणो का वर्णन करते हुए प्रणतिपूर्वक सम्मान व्यक्त किया है। एक दृष्टि से देखें तो सम्पादक का सहज व्यक्तित्व कैसा होना चाहिए यह शिक्षा भी उन्होने दी है। यथा—

देशोपकारव्रतधारकाय
नानाकला कौशल कोविदाय
नि शेष शास्त्रेषु च दीक्षिताय
सम्पादकाय प्रणतिर्ममास्तु ॥
गृह्णासि सम्पादकता यदैव
तदैव शास्त्राणि सुविस्तराणि ।
भाषा समस्ता सकला कलाश्च
त्वा त्वद्भयेनैव समाश्रयन्ति ॥

द्विवेदी जी ने उस सम्पादक की प्रशसा की है जिसने देशकल्याण का व्रत धारण किया है, जो बहुविध कलाकौशल मे मुदक्ष है, समस्त शास्त्रो में जो विधिवद् दीक्षित है तथा समस्त भाषा, सकल कला और शास्त्रो का विस्तार सहजरूप मे ही जिसका आश्रय प्राप्त करते हैं।

फरवरी १८९८ मे द्विवेदी जी ने "सूर्य ग्रहण" शीर्षक पर भी पद्य रचना की। जिस समय विक्रम सवत १९५४ की माघ मास की अमावस्या के दिन दोपहर के समय सर्वग्रासी सूर्य ग्रहण होने लगा तब उसको देखकर जो विचार उनके मन मे तरङ्गित हुए वे ही वैखरी के रूप मे कवितात्व मे परिणत हो गए। प्रथम पद्य मे उन्होने सूर्यग्रहण का समय वर्णित किया है। यह समय गणना सस्कृत की प्राकृतन परिपाटी का अनुसरण करती है—जैसे—

वेदेषुखण्डशशिसूचित वैक्रमीये ।
सवत्सरे जनपदेऽत्र तदैव येयम् ।
दृष्टा नमासि सघटनाऽद्भुता ताम्
मित्रानुरोध वशतो ननु वर्णयामि ।

यहा मित्र शब्द श्लिष्ट है अत यह श्लिष्टता ही कदाचित् अग्रिम पद्यो की अप्रस्तुत प्रशसा की भूमिका रूप भी हो सकती है। जैसे द्वितीय पद्य निम्न प्रकार से द्रष्टव्य है—

शीततु मध्यगतमञ्जुल माघ मासे
मध्येदिन दिनकरस्य तनूममायाम् ।
आच्छादायष्यसि शशी नियत निजेन
बिम्बेन तूर्णमिति पूर्णतया निरप्य ॥

यहा सस्कृत आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट अप्रस्तुत प्रशसा अलकार के पचम भेद "तुल्ये तुल्यस्यारोप" के अनुसार उस शक्तिशाली, प्रभावसम्पन्न किन्तु दैवदुर्विपाकापन्न राजा का अर्थ ग्रहण हो सकता है जो परिस्थितिवश प्रतिद्वन्दी से पराभूत कर दिया गया है।

इसी प्रकार अग्रिम दो पद्यो मे सूर्य ग्रहण को देखने के लिए उत्कण्ठित जनो का वर्णन बडे ही स्वाभाविक रूप मे किया गया है। यह वर्णन भी सहृदय सुधीजनो के हृदय मे किसी रमणीय ध्वन्यमान अर्थ की प्रतीति कराने मे समर्थ है। जैसे—

तद्दर्शनाय विदुषामवलि समन्तात्
द्वीपान्तरादपि चचाल विलघ्य सिन्धून् ।
नाना विधानि परिगृह्य बुधस्तुतानि
यन्त्राणि सूर्यविधुबिम्बपरीक्षकाणि ॥
विज्ञान शास्त्र कुशला विबुधा अनेका
उच्चोच राजपुरुषा अपि गौरकाया ।
सिद्धि विधाय रविवीक्षण साधनानाम्
तस्थुर्यदा वसनवेश्मनि वत्सरादौ ॥

इस प्रकार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत पद्य रचना करके सस्कृत जगत की पडित मडली को भी अलकृत किया है। द्विवेदी जी भावयित्री प्रतिभा के धनी तो थे ही किन्तु उनकी सस्कृतरचना कारयित्री प्रतिभा के भी सहज रूप को सपुष्ट करती है। मेरी आस्थामयी भावना के अनुसार द्विवेदी जी साहित्य सागर के दो तटो (सस्कृत एव हिन्दी) के मध्यवर्ती सुदृढ सेतु थे जिनका आश्रयप्राप्त व्यक्ति एक तट से दूसरे तट तक बडी सरलता के साथ सुखानुभूति करता हुआ पहुच जाता था। ऐसे युग-मनीषि के प्रति हम नत हैं।

आचार्य द्विवेदी युग की पत्रकारिता

—डा० श्यामसुन्दर शुक्ल
रीडर, हिन्दी विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

यह तो सर्वविदित ही है कि सन् १६०० से १६२० ई० के कालखण्ड को 'द्विवेदी युग' का अभिधान प्रदान किया गया है। यह युग वर्तमानकालीन हिन्दी साहित्य की बहुमुखी प्रगति की पृष्ठभूमि तैयार करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का है। साहित्य की अन्यान्य विधाओ की भाँति ही पत्र-पत्रिकाओ के प्रचार-प्रसार के क्षेत्र मे और पत्रकारिता को सम्पुष्ट करने की दृष्टि से इस युग की देन ऐतिहासिक है। वस्तुत यह ज्ञान-सवर्द्धन, रीति-नीति सशोधन, हिन्दी भाषा और साहित्य के परिमार्जन का युग है। पत्रकारिता को नई दिशा देने, पत्रिका-प्रकाशन व्यवसाय को आत्मनिर्भर बनाने और लेखको मे आत्मविश्वास के भाव का पोषण करने की दिशा मे हमे इस युग मे अनन्त सभावनाएँ निहित दिखाई देती हैं। जिन विषम परिस्थितियो में इस युग की पत्र-पत्रिकाओं को अपना मार्ग प्रशस्त करना पडा वे बडी ही दुरूह और कँटकाकीर्ण थी।

हिन्दी पत्रो के पाठको की अत्यल्प सख्या, हिन्दी भाषा की रोटी-रोजी से न जुड पाने की स्थिति, अग्रेजी की ओर जनता की बढती हुई रुचि, शिक्षितो मे हिन्दी को गुलामी और आत्महीनता की भाषा मानने की प्रवृत्ति, पराधीनता के कारण पत्र-पत्रिकाओ पर कठोर प्रशासकीय नियंत्रण, स्पष्ट एव प्रखर अभिव्यक्ति पर मडराते हुए शासकीय खतरे, आर्थिक अभाव, पाठकों मे इन पत्रों को चलते रहने के लिए अपेक्षित सहभागिता एव निजीपन का अभाव और ताजे समाचारो का सकलन कर अग्रेजी समाचारपत्रो के साथ ही या पहले पाठक तक पहुँचा सकने की सुविधा का न होना, आदि ऐसी स्थितियाँ हैं, जो पत्र-पत्रिकाओ के प्रकाशन व्यवसाय मे अवरोधक तत्त्व थे। फलतः इनकी पाठक सख्या २५०–३०० से अधिक नहीं हो पाती थी। यहाँ तक कि बुलन्द हौसले और प्रबल इच्छाशक्ति से प्रारभ किये गये पत्र भी पाठको का आर्थिक सहयोग न पाने के कारण कुछ ही वर्षों मे दम तोड बैठे। पत्र-प्रकाशको और सपादको के ऊपर सामग्री सकलन तथा उसके सम्यक् सपादन-प्रकाशन के साथ ही पाठकों को ढूँढने और उन्हे बनाये रखने का भी भार होता था। ऐसी स्थिति मे वे अपनी सच्ची प्रतिभा और शक्ति को एकोन्मुखी नही कर पाते थे। पत्र बन्द न हो जाय, इसकी चिन्ता उन्हे परेशान करती रहती थी।

एक ओर राष्ट्रीय जागरण के बिगुल बज रहे थे, समाज और धर्म के क्षेत्र में सुधारवादी आन्दोलनो की धूम थी, विदेशी वस्तुओ के बायकाट और स्वदेशी वस्तुओं के इस्तेमाल की ओर झुकाव बढाने के प्रयास हो रहे थे और जातीय चेतना के उत्थान के लिए हर सभव कदम उठाये जा रहे थे, वही पाश्चात्य सस्कृति एव अग्रेजी जीवनपद्धति की ओर जनता में तीव्र आकर्षण बढ रहा था। आफिस के बाबुओ की सस्कृति सभी को अपनी ओर आकर्षित कर रही थी। हिन्दी पत्र-पत्रिकाओ को पढना पिछडेपन का प्रमाण माना जा रहा था। इसके साथ ही पत्रकारिता-जगत को अपनी पुरानी विरासत को भी छानने और सस्कारित करने का काम करना पडा। भारतेन्दु युग की भाषा और रचना-शैली मे सस्कार की आवश्यकता आ पडी थी। सुरुचि, सुनियोजित दृष्टिकोण, सुनिश्चित उद्देश्य, साहित्य की हर विधा को विकसित करने और दिशा देने का लक्ष्य, भाषाप्रयोग के क्षेत्र मे व्याप्त अराजकता को समाप्त करने, रोचकता के साथ गभीरता का सामजस्य करने, साहित्यिक अनुशासन को पुष्ट करने आदि भी इस युग की पत्रकारिता का ही दायित्व था, जिसे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, प० लक्ष्मणनारायण गर्दे, बाबूराव विष्णु पराडकर, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू सपूर्णानन्द और श्रीप्रकाश जी आदि ने बखूबी निभाया।

इस युग मे पहले से चले आ रहे दैनिक पत्रो मे केवल 'हिन्दुस्तान' ही उल्लेखनीय है। आलोच्य युग मे सिपाही, राजस्थान समाचार, हिन्दोस्थान, भारत मित्र, हिन्दी बिहारी, कानपुर गजट, कलकत्ता समाचार, अभ्युदय, भारत जीवन, श्री वेकटेश्वर समाचार, जयाजी प्रताप और आनद आदि लगभग २० दैनिक अखबार निकले परन्तु इनमे से कुछ थोडे समय तक चलकर बन्द हो गये। सन् १९१४-१८ का प्रथम विश्वयुद्ध ऐसा निमित्त था, जिसने जनता मे ताजा समाचारो के प्रति ललक बढा दी थी अतः इस अवधि मे अखबारों की सख्या सहसा बढी और सन् १९१९ तक इनमे से अधिकाश बन्द हो गये। सन् १९२० मे 'आज', 'वर्तमान', 'दैनिक प्रताप', 'भविष्य' और 'विजय' आदि कई दैनिको का प्रकाशन आरम्भ हुआ लेकिन उनमे केवल 'आज' ही आज तक टिका हुआ है और इसने यथेष्ट विकास भी किया है।

आचार्य द्विवेदी युग मे पहले से चले आ रहे दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्रों और आलोच्य युग क बीच आरम्भ हुए पत्रों का दिग्दर्शन अलग-अलग सूचियो द्वारा कराया जा रहा है। इन सबका विस्तृत परिचय एक पूरे ग्रथ का विषय है अत सूची का आश्रय लेकर इनकी एक झलक मात्र ही देने की यहाँ विवशता है। अस्तु यह सूची द्रष्टव्य है—

(१) दैनिक समाचार पत्र

१. **भारत मित्र**—सन् १८७८ ई० मे कलकत्ता से आरंभ होकर कुछ समय पश्चात् यह पत्र बन्द हो गया। पुन' दिल्ली दरबार के समय सन् १९११ ई० से आरम्भ होकर सन् १९३४ ई० तक चला। इसके प्रकाशक बाबू मूलचन्द अग्रवाल थे।

२. **कलकत्ता समाचार**—सन् १९१४ ई० मे कुछ मारवाड़ी बन्धुओ ने मिलकर कलकत्ता से इसका प्रकाशन प्रारभ किया परन्तु कुछ ही दिनो बाद यह बद हो गया।

३. **वेंकटेश्वर समाचार**—सन् १९१५ ई० मे आरम्भ होकर कुछ ही समय तक दैनिक पत्र के रूप मे चल सका। फिर साप्ताहिक के रूप मे यह साहित्य और समाज की सेवा करता रहा।

४. **विश्वमित्र**—सन् १९१६ ई० में बाबू मूलचद अग्रवाल ने कलकत्ता मे दैनिक पत्र के रूप मे इसका प्रकाशन आरभ किया जो अब तक चल रहा है। इसके सपादक प्रारभ मे श्री अंबिकादत्त वाजपेयी थे।

५. **आज**—सन् १९२० ई० मे बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने ज्ञानमडल प्रेस, काशी से इसका प्रकाशन आरभ किया। उस समय इसके सपादक बाबू श्रीप्रकाश जी थे। यह अखबार आज भी अपनी पूरी सज-धज के साथ अनेक केन्द्रो से निकल रहा है।

सन् १९२० ई० से ही 'स्वतत्र', दैनिक प्रताप', 'वर्तमान', आदि कुछ नये दैनिको का प्रकाशन आरभ हुआ।

सन् १९१४ ई० मे सन् १८८४ से साप्ताहिक रूप मे प्रकाशित हो रहे 'भारत जीवन' का प्रकाशन कुछ दिनो तक दैनिक पत्र के रूप मे भी हुआ परन्तु यह पत्र शीघ्र ही बन्द हो गया। उस समय इसके सपादक बाबू रामकृष्ण वर्मा थे। सन् १९१८ मे 'ललिता' नामक दैनिक का मेरठ से शुभारभ हुआ और यह द्विवेदी युग के पश्चात् भी कुछ समय तक चलता रहा। इसका मासिक रूप मे भी प्रकाशन होता था, जिसके सपादक श्री मुरारीलाल मालिक थे। इनके अतिरिक्त दिल्ली के 'अर्जुन' और कलकत्ता के 'स्वतत्र' का भी दैनिक समाचारपत्र के रूप मे अपना विशिष्ट महत्त्व है।

(२) अर्द्धसाप्ताहिक पत्रिकाएँ

आचार्य द्विवेदी-युग में अर्द्धसाप्ताहिक पत्रो की सख्या नगण्यप्राय है। केवल 'प्रणवीर' (नागपुर से), 'साम्यवादी' (१९२० ई०) और 'लोकमत' के ही नाम इस कोटि मे प्राप्त होते हैं। 'लोकमत' का भी प्रकाशन सन् १९३० ई० से प्रारभ हुआ था।

(३) साप्ताहिक पत्रिकाएँ

१. अवसर (कलकत्ता)।
२. अवधवासी (१९१४ ई० मे लखनऊ से परन्तु कुछ ही समय बाद बन्द)।

३. अभ्युदय (१९०७ से १९१८ ई०)—प० मदनमोहन मालवीय जी ने प्रयाग से स्वय सपादित करके प्रकाशित किया परन्तु कार्याधिक्य के कारण कुछ ही दिनो में सपादन का भार श्री पुरुषोत्तमदास टडन को सौंप दिया।

४. अलमोड़ा समाचार (देहरादून से)

५. आर्यजगत (लाहौर से)

६. उदय (सागर से)

७. कैलाश (मुरादाबाद से)

८. कर्त्तव्य (इटावा से)

९. कर्मयोगी (सन् १९०९ से १९१० तक) संपादक-सुन्दरलाल जी।

१०. कर्मवीर (१९२० ई०, खडवा से)

११ गरीब (बिजनौर से)

१२ जयाजी प्रताप (ग्वालियर से)

१३ तरुण राजस्थान (अजमेर से)

१४. तिरहुत समाचार (मुजफ्फरपुर से)

१५. देश (पटना से)

१६ नृसिंह (१९०७ ई०) प० अबिकाप्रशाद वाजपेयी के सपादकत्व मे यह पत्र कलकत्ता से छपना आरभ हुआ। यह मुख्यत राजनीतिक पत्र था परन्तु इसका साहित्य को उल्लेखनीय योगदान है।

१७. पाटलिपुत्र (पटना से, १९१४ ई० से)।

१८. प्रताप—(प्रकाशन वर्ष—१९१० ई०) श्री गणेशशकर विद्यार्थी के सपादन मे कानपुर से यह पत्र प्रकाशित होना आरभ हुआ। इसमे मुख्यत राष्ट्रीय भावना वाली कविताएँ ही प्रकाशित होती थी। मु शी प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ भी इसमे निकली। राष्ट्रीय आन्दोलन मे इस पत्र की भूमिका सराही जाती थी।

१९. प्रेम—(वृन्दावन से)।

२०. भविष्य (कानपुर से, सन् १९१९ से)

२१ भारत जीवन (सन् १८८८ ई० से)—यह काशी से प्रकाशित हो रहा था। इसके सपादक बाबू रामकृष्ण वर्मा थे।

२२. भारत भगिनी—(सन् १८८८ से प्रारभ होकर १९०६ तक—प्रकाशन स्थान, सरस्वती प्रेस, प्रयाग)।

२३. भारत मित्र (१८७८—१९२० ई०) पं० छोटूलाल मिश्र के सपादन मे यह पत्र कलकत्ता से प्रकाशित होता था। आरभ मे यह पाक्षिक था। सन् १८९७ मे यह साप्ताहिक हो गया और १९१२ ई० से दैनिक पत्र के रूप मे प्रकाशित होने लगा। इसके सपादको मे बाबू बालमुकुंद गुप्त, अबिकाप्रसाद वाजपेयी और प० लक्ष्मणनारायण गर्दे के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

२४. भाषा चंद्रिका (सन् १९०० से, तारा यन्त्रालय-काशी से प्रकाशन) साहित्य और ललित कलाओ के क्षेत्र मे इस पत्रिका का योगदान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके प्रकाशक श्री हरेकृष्ण अग्रवाल थे।

२५ मतवाला (कलकत्ता से)

२६. मारवाडी (नागपुर से)

२७ महावीर (हरिद्वार से)

२८. महिला सुधार (कानपुर से)

२९ मित्र (काशी से सन् १८८४ ई० से ही प्रकाशित हो रही इस पत्रिका के सपादक बाबू बालमुकुद वर्मा थे। यह विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका थी और साहित्य की हर विधा की रचनाएँ इसमे छपती थी।

३० मिथिला मिहिर (मुजफ्फरपुर से)

३१ मौजी (कलकत्ता से)

३२ रगीला (गया से)

३३ वीर भारत

३४ वेंकटेश्वर समाचार

३५ शकर (मुरादाबाद से)

३६ शक्ति (अलमोडा से)

३७ शिक्षा

३८ शुभचिंतक

३९ सिंधु समाचार

४० सुदशा प्रवर्त्तक

४१ सूर्य (काशी से)

४२ सैनिक (१९२० ई०, आगरा से)

४३ स्वदेश (१९२० ई०, गोरखपुर से)

४४ स्वराज्य (१९२० ई० से)

४५ स्वार्थ (१९२० ई० से)

४६ **हिंदी केसरी** (सन् १९०७—०९ तक) श्री माधवराव सप्रे ने नागपुर से यह साप्ताहिक निकाला था। आपत्तिजनक राजनीतिक गतिविधियो के कारण सरकार ने इस पर रोक लगा दी। पुन १९१५ ई० से पाक्षिक रूप मे इसका प्रकाशन आरभ हुआ। इसमे तिलक जी के लेख प्रकाशित होते थे।

४७ **हिंदी बगवासी** (सन् १८९०, कलकत्ता से) यह पत्र सन् १९०८ तक चला। इसके सपादको मे से बाबू बालमुकुद गुप्त, पराडकर जी, अबिकाप्रसाद वाजपेयी जी तथा प लक्ष्मणनारायण गर्दे जैसे महारथियो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसमे समाचारो के साथ ही साहित्य की विविध विधाओं की कृतियाँ भी छपती थी।

४८. हिन्दी राजस्थान (दिल्ली से)।
४९. हिन्दू संबंध सहायक (सहारनपुर से)।

(४) पाक्षिक पत्र-पत्रिकाएँ

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी युग मे पाक्षिक पत्रो की संख्या बहुत ही कम थी। ज्ञात सूत्रो के अनुसार ऐसे पत्रो मे 'राजपूत', 'जैन मित्र' (सूरत) 'जैन शासन', 'आचार्य' और 'हिन्दी केशरी' ही उल्लेखनीय हैं। ज्ञातव्य है कि 'हिन्दी केशरी' सन् १९०७ से १९०८ ई० तक तो मासिक पत्र था, फिर बन्द हो गया। पुन जब १९१५ से इसका प्रकाशन आरभ हुआ तो यह पाक्षिक हो गया।

(५) मासिक पत्र-पत्रिकाओं की सूची

१ अबला हितकारक (सन् १९०३ से प्रारम्भ)।
२. आत्मविद्या।
३. आदर्श।
४. आनन्द कादम्बिनी (सन् १८८१ से आरम्भ, इस युग मे भी चलती रही)।
५. आभीर समाचार (शिकोहाबाद से प्रकाशित)।
६. आरोग्य जीवन।
७. आर्य वनिता (सन् १९०६ से प्रारम्भ, नरसिंहपुर से)।
८. आर्यावर्त ।
९. इदु (१९०९ ई० से, काशी से 'प्रसाद' जी द्वारा प्रकाशित)।
१०. उषा (१९१४–१५ ई०)।
११ उपन्यास बहार (१९०७ ई० से)।
१२. उपन्यास (१९०१ ई० से)।
१३. उपन्यास लहरी (१९०२ ई० से)।
१४. उपन्यास सागर (सन् १९०३–१९०५ ई०)।
१५. एजुकेशनल गजट।
१६. औदुबर (सन् १९१२ ई० से)।
१७. कथामुखी।
१८. कन्या मनोरजन (सचित्र) (सन् १९१४ से १९१९)।
१९. कन्या सर्वस्व (सचित्र) सन् १९१३ से प्रकाशित।
२०. कमला (सन् १९०७ मे, कलकत्ता से प्रकाशित)।
२१. कलवार केशरी (लखनऊ से)।
२२. कलवार क्षत्रिय मित्र (प्रयाग से)।
२३. कला कुशल (१९०६ ई०)।

२४. कलौंघन मित्र (भागलपुर से, १९१८ से)।
२५. कवीन्द्र वाटिका (१९०७ से)।
२६. कान्यकुब्ज हितकारी।
२७. कवि कौमुदी (प्रयाग)।
२८. कानपुर गजट।
२९. कालिन्दी।
३० कृषि सुधार।
३१. किसानोपकारक (१९१९–१९२० ई०)।
३२ कूर्मिक्षत्रिय हितैषी (पन्ना से)।
३३ कान्यकुब्ज (काशी से)।
३४. गृहलक्ष्मी (प्रयाग से, १९०९ ई० से)।
३५. गढवाली (देहरादून से)।
३६ गहोई वैश्य सहायक (उरई से)।
३७ गौड हितकारी।
३८. चन्द्रप्रभा।
३९ चाँद (सन् १९०९ से, लाहौर)।
४० चित्रमय जगत (सन् १९११, पूना से)।
४१ चैतन्य चन्द्रिका (१९११ ई०)।
४२. छत्तीसगढ मित्र (सन् १९०० से, रामगढ से)।
४३ जागीड़ा समाचार।
४४. जासूस (उपन्यास पत्रिका)।
४५ जैन गजट (कलकत्ता)।
४६. जैन तत्व प्रकाश।
४७. जैन महिला आदर्श (सूरत)।
४८. जैन सिद्धान्त भास्कर।
४९ जैन हितैषी।
५० तिजारत (शाहजहाँपुर से)।
५१. तैलीस समाचार।
५२ दिगबर जैन (सूरत)।
५३ देवनागर (सन् १९०५ से, स० देवानन्द अखौरी)।
५४. देशबन्धु।
५५ देहाती जीवन (१९११ ई० से)।
५६ द्विजराज (प्रयाग से)।
५७. धर्मकुसुमाकर।
५८. धर्मरक्षक (कलकत्ता से)।
५९. नृसिंह (१९०७ ई० से कलकत्ता से—स० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी)।

६०. नवजीवन ।
६१. नवनीत (सन् १९१३ से, सं० लक्ष्मणनारायण गर्दे) ।
६२. नाई ब्राह्मण (कानपुर से) ।
६३ नागरी प्रचारक ।
६४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (सन् १८९६ से, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की प्रसिद्ध शोधपत्रिका) ।
६५ नागरी हितैषिणी पत्रिका (१९०६ ई० से) ।
६६. निगमागम चद्रिका (वाराणसी से, १९०२–१९१७ ई०) ।
६७ पांचाल बन्धु (जबलपुर से) ।
६८ परोपकारी (सन् १९०८ ई० से) ।
६९ पाचाल पडिता ।
७०. पालीवाल ब्राह्मणोदय ।
७१. पीयूष प्रवाह ।
७२ प्रजा सेवक (हुशगाबाद से)
७३. प्रतिभा (सन् १९१८ ई० से) ।
७४ प्रभा (१९१३ ई० से, कानपुर से प्रकाशित) ।
७५. प्रभात ।
७६. प्रियम्वदा ।
७७ प्रेमविलास ।
७८. बरनवाल चन्द्रिका (काशी से) ।
७९ बालक ।
८० बाल प्रभाकर (सन् १९०६, काशी से, किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा) ।
८१ बालसखा ।
८२ बाल हितैषी ।
८३ ब्रह्मचारी (हरिद्वार से) ।
८४. ब्राह्मण (दिल्ली से) ।
८५. ब्राह्मण सर्वस्व (इटावा से) सन् १९०५ से प्रकाशित ।
८६ बिहार पत्रिका (पटना) ।
८७. भारत जीवन (सन् १८८४ से द्विवेदी युग तक) यह सन् १९१४ मे कुछ समय तक दैनिक रूप मे छपा ।
८८. भारतेन्दु (सन् १९०५ से, काशी से) ।
८९. भारत भगिनी (सन् १८८८ से १९०६ ई० तक इलाहाबाद से) ।
९० भारती सर्वस्व (सन् १९०५ ई० से) ।
९१. भारतोदय (सन् १९११ से १९२० तक) ।
९२. भास्कर (सन् १९११, मेरठ से) ।
९३. भाषा चन्द्रिका (सन् १९०० ई०, काशी से) ।

९४. भूमिहार ब्राह्मण पत्रिका (वाराणसी से)।
९५. भ्रमर (बरेली से)।
९६. मनोरजन (शाहाबाद, १९१२ ई० से १५ तक)।
९७. मनोरमा (प्रयाग से, सन् १९१२ ई० से)।
९८. मर्यादा (सन् १९११ से, श्री कृष्णकान्त मालवीय द्वारा प्रयाग से)।
९९. महिला दर्पण।
१००. महिला महत्त्व (कलकत्ता से)।
१०१. महिला सुधाकर (कानपुर से)।
१०२ माधुरी (सन् १९१३ ई० से)।
१०३ मारवाडी मोहिनी (दमोह)।
१०४. माहेश्वरी सुधाकर (अजमेर से)।
१०५ मालव मयूर (काशी से)।
१०६. मित्र (सन् १८८८ से आचार्य द्विवेदी युग तक जारी, उपन्यास कार्यालय-काशी से प्रकाशित।
१०७. युगातर (कलकत्ता से)।
१०८ योग प्रचारक (वाराणसी से)।
१०९ रसिक रहस्य (सन् १९०७ से १९१० ई०)।
११० रसिक वाटिका।
१११ ललिता (सन् १९१८ से, मेरठ, मुरारीलाल मागलिक द्वारा सपादित)।
११२ लक्ष्मी (सन् १९०३ से, वाराणसी, लाला भगवानदीन द्वारा सपादित)।
११३ लोकमान्य (बादा से)।
११४. विकास।
११५ विज्ञान।
११६ विद्यार्थी (प्रयाग से)।
११७. विद्याविनोद।
११८. विश्वविद्या प्रचारक।
११९ वैद्य कल्पतरु।
१२० वैदिक सर्वस्व।
१२१ वैश्योपकारक (सन् १९०४ से, कलकत्ता)।
१२२. शांति (सहारनपुर से)।
१२३ शिशु (प्रयाग से)।
१२४ शिक्षामृत (नरसिंहपुर से)।
१२५ शिक्षा प्रभाकर (अलीगढ से)।
१२६. शिक्षा सेवक (पटना)।
१२७. श्री कमला (सन् १९१६, भागलपुर से)।

१२८. श्री शारदा।

१२९. संगीतामृत प्रवाह।

१३०. संप्रदाय (बड़ौदा से)।

१३१ संसार।

१३२. सत्यवादी।

१३३ सनाढ्य प्रचारक (आगरा से)।

१३४ सनातन धर्म (कलकत्ता से)।

१३५ सनाढ्य हितकारी (झांसी से)।

१३६ समन्वय (कलकत्ता से)।

१३७ समालोचक (जयपुर, सन् १९०१ से)।

१३८. सम्मेलन पत्रिका (प्रयाग से)।

१३९. सरस्वती (प्रयाग, १९०० ई० से)।

१३०. साहित्य पत्रिका।

१४१ साधु (१९१० ई०, बड़ौदा से) यह वैष्णव धर्म की पत्रिका थी।

१४२. साध्वी सर्वस्व (प्रयाग से)।

१४३ सुख मार्ग (अलीगढ़ से)।

१४४ सुदर्शन (सन् १९०० से १९१९ तक)।

१४५. सुधा निधि।

१४६. स्त्री दर्पणी (सन् १९०३ से, श्रीमती रामेश्वरी नेहरू द्वारा संपादित, प्रयाग)।

१४७. स्त्री धर्मशिक्षक—(१९०३ से १९२० तक)।

१४८ स्वदेश बान्धव (सन् १९०५ से १९१८ ई०)।

१४९. स्वर्ग माला।

१५०. स्वास्थ्य (कानपुर से)।

१५१. स्वार्थ (पहले यह मासिक था, फिर १९२० से साप्ताहिक हो गया)।

१५२. हलवाई वैश्य संरक्षक (काशी से)।

१५३. हिंदी ग्रंथमाला (नागपुर से, १९०६ ई० से)।

१५४. हितवार्ता (सन् १९०३ से, कालीप्रसन्न द्वारा संपादित)।

१५५. हिन्दी गल्पमाला (काशी से)।

१५६. हिन्दी केसरी (सन् १९०७ से १९०९ तक, संपादक श्री माधवराव सप्रे)।

१५७. हिन्दी प्रदीप (सन् १८७७–१९०७ ई० तक, प्रयाग से)।

१५८ क्षत्रिय मित्र (काशी से)।

१५९. क्षत्रिय हितकारिणी (सन् १९१८ से)।

१६० क्षत्रिय हितकारी (१९१५—१९२० ई०)।

१६१. ज्ञान शक्ति (१९२० ई०)।

आलोच्य युग की साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं की इस सूची का यदि हम बारीकी के साथ निरीक्षण-परीक्षण करते हैं तो इनमे निम्नांकित १७ मुख्य कोटियाँ मिलती हैं जो इनके प्रकाशनोद्देश्य को भी अभिव्यक्त करती हैं। ये कोटियाँ हैं—

१. जाति सुधार सबधी पत्र-पत्रिकाएँ।
२. स्त्री शिक्षा सबधी पत्र-पत्रिकाएँ।
३. आरोग्य एव चिकित्सा सबधी पत्र-पत्रिकाएँ।
४. कथा साहित्य की पत्रिकाएँ।
५. धर्माचरण एव चरित्र की शिक्षा देने वाली पत्रिकाएँ।
६. स्थानीय (क्षेत्रीय) समाचारप्रधान पत्र-पत्रिकाएँ।
७. कृषि तथा व्यवसाय से सबधित पत्र-पत्रिकाएँ।
८. बाल-शिक्षा से सबधित पत्र-पत्रिकाएँ।
९. साहित्यिक उद्देश्य वाली पत्रिकाएँ—

इनमे आनन्द कादम्बिनी, इदु, उपन्यास लहरी जैसी उपाख्यानमूलक पत्रिकाएँ, कवीन्द्र वाटिका, कवि कौमुदी, चाँद, चित्रमय जगत, छत्तीसगढ मित्र, नृसिंह, नवनीत, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, प्रताप, भारत जीवन, भारत भगिनी, भाषा चद्रिका आदि।

१०. ऐसी पत्रिकाएँ जो उपर्युक्त ९ क्षेणियो मे नही आती।

१. जाति-सुधार संबंधी पत्रिकाएँ

अग्रवाल समाचार, आभीर समाचार, कलवार केशरी, कलवार क्षत्रिय मित्र, कलवार मित्र (प्रयाग), कलौधन मित्र, कान्यकुब्ज हितकारी, कूर्मि क्षत्रिय हितैषी, क्षत्रिय समाचार, गहोई वैश्य सहायक, गौड हितकारी, जागीडा समाचार, जैन गजट, जैन तत्व प्रकाश, जैन सिद्धान्त भास्कर, जैन हितैषी, तैलीस समाचार, दिगम्बर जैन (सूरत), द्विजराज, नाई-ब्राह्मण समाचार, परमार बन्धु (जबलपुर), पालीवाल ब्राह्मणोदय, बरनवाल चद्रिका, ब्राह्मण (दिल्ली), ब्राह्मण सर्वस्व, भूमिहार ब्राह्मण पत्रिका, मारवाडी मोहिनी, माहेश्वरी सुधाकर (कानपुर), सनाढ्य प्रचारक, सनाढ्य हितकारी और हलवाई सरक्षक आदि।

२. स्त्री शिक्षा-सबंधी पत्रिकाएँ

अबला हितकारक, आर्य वनिता (नरसिंहपुर), कन्या मनोरजन (सचित्र), कन्या सर्वस्व (सचित्र), कमला (कलकत्ता), कुमारी धर्म, गृहलक्ष्मी (प्रयाग), चाँद (लाहौर), जैन महिला आदर्श (सूरत), नारी धर्म, पाचाल पडिता, भारत भगिनी (लाहौर), महिला दर्पण, महिला दर्पणी, महिला महत्त्व (कलकत्ता), महिला सुधाकर (कानपुर), वनिता हितैषी (अलीगढ़), स्त्री धर्म शिक्षक, स्त्री धर्म शिक्षा, साध्वी आदि।

३. आरोग्य संबंधी पत्रिकाएँ

आरोग्य जीवन, वैद्य, वैद्य-कल्पतरु, सुधानिधि और स्वास्थ्य आदि।

४. कथा साहित्य की पत्रिकाएँ

उपन्यास बहार, उपन्यासमाला, उपन्यास लहरी, उपन्यास सागर, कथामुखी, जासूस, हिन्दी गल्पमाला (काशी) आदि।

५. धर्माचरण एवं चरित्र-शिक्षा संबंधी पत्रिकाएँ

आत्मविद्या, आदर्श, चैतन्य चन्द्रिका, जैन तत्वप्रकाश, जैन सिद्धान्त भास्कर, धर्म रक्षक, धर्म कुसुमाकर, निगमागम चद्रिका, वैदिक सर्वस्व, सप्रदाय, सनातन धर्म, साधु, साध्वी, स्वर्गमाला आदि।

६. स्थानीय समाचारप्रधान पत्रिकाएँ

कानपुर गजट, गढवाली, छत्तीसगढ, मित्र, पाचाल बन्धु और बिहार चद्रिका आदि।

७. कृषि एवं व्यवसाय-शिक्षा सबधी पत्रिकाएँ

कृषि सुधार, किसानोपकारक, देहाती जीवन और तिजारत आदि।

८. बाल-शिक्षा सबंधी पत्रिकाएँ

एजुकेशनल गजट, बालक, बाल प्रभाकर, बाल सखा, बाल हितैषी, विज्ञान, विद्यार्थी, विद्या विनोद, विश्वविद्या प्रचारक, शिशु शिक्षामृत, शिक्षा प्रभाकर और शिक्षा सेवक आदि।

६. साहित्यिक योगदान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पत्रिकाएँ

१. **आनन्द कादम्बिनी**—यह पत्रिका सन् १८८१ ई० से ही साहित्य-सेवा मे रत थी। इसके सपादक प० बदरीनारायण उपाध्याय थे। यह द्विवेदी युग मे और भी समृद्ध एव सक्रिय हुई। आलोचना के क्षेत्र मे इसका योगदान स्तुत्य है।

२. **इदु**—श्री जयशकर प्रसाद की प्रेरणा से प० अबिकाप्रसाद गुप्त के सपादकत्व मे इसका प्रकाशन सन् १६०६ ई० मे काशी से आरम्भ हुआ। आचार्य द्विवेदी की अतिशय आदर्शवादिता, सास्कृतिक पक्षधरता, काव्य मे मनोरजकता एव उपदेशपरकता आदि के प्रति रुझान के प्रतिक्रियास्वरूप प्रसाद जी ने 'इन्दु' का प्रकाशन प्रारभ किया। उनकी चिढ 'इन्दु' के प्रथम अक की प्रस्तावना मे इस प्रकार व्यक्त हुई है—"साहित्य स्वतत्र प्रकृति, सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है। वह किसी की परतत्रता को सहन नही कर सकता। ससार मे जो कुछ सत्य और सुन्दर है, वही साहित्य का विषय है।"

इसी पत्रिका के माध्यम से सन् १९०७ से १९१६ ई० के बीच प्रसाद जी की लगभग ११८ कविताएँ प्रकाशित हुईं। उनके कुछ नाटक भी इसमे छपे। प्रसाद जी के अतिरिक्त रायकृष्णदास, रामचद्र शुक्ल, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, मैथिलीशरण गुप्त, रामदहिन मिश्र और लोचनप्रसाद पाडेय आदि का भी प्रचुर साहित्य इन्दु मे प्रकाशित हुआ।

३ **उपन्यास से जुड़ी पत्रिकाएँ**—आलोच्य युग मे विशिष्टीकरण की प्रकृति वाली पत्रिकाओ का भी प्रकाशन होता था। यद्यपि अन्य पत्रिकाओ मे भी उपन्यास सपूर्ण या धारावाहिक रूप से छपते थे परन्तु उपन्यास के प्रति पाठको के तीव्र आकर्षण को देखते हुए शुद्ध रूप से उपन्यास-पत्रिकाएँ भी इस युग मे छपी, यथा 'उपन्यास', 'उपन्यास बहार', 'उपन्यास भास्कर', 'उपन्यास लहरी', 'उपन्यास सागर', 'कथामुखी', 'जासूस' आदि।

४ **कमला**—आरभ मे श्री जीवानद शर्मा काव्यतीर्थ के सपादकत्व मे यह सन् १९०८ ई० से कलकत्ता मे छपती थी परन्तु १९१६ ई० से श्रीकमला के नाम से भागलपुर से छपने लगी। विषय-वैविध्य इसकी विशेषता थी।

५ **चाँद**—सन् १९०९ से यह मासिक पत्र लाहौर से प्रकाशित होने लगा था। लाला चरणदास इसके सपादक थे। इसमे कहानी, उपन्यास, रेखाचित्र, गद्यगीत, कविता आदि सभी विधाएँ छपती थी। मु शी प्रेमचद की 'बडे घर की बेटी' शीर्षक कहानी इसी मे छपी थी।

६ **चित्रमय जगत**—इसका प्रकाशन सन् १९११ से पूना से होना आरभ हुआ। प० लक्ष्मीधर वाजपेयी इसके सपादक थे। यह विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका थी।

७ **देवनागर**—श्री यशोदानद अखौरी के सपादकत्व मे सन् १९०८ से प्रकाशित। देवनागरी लिपि का प्रचार-प्रसार इसका उद्देश्य था। गभीर निबध इसमे अधिक छपते थे। कविता-कहानी की ओर इस पत्रिका का रुझान अपेक्षाकृत कम था।

८. **नृसिंह**—यह सन् १९०७ ई० मे प० अबिकाप्रसाद वाजपेयी के सपादकत्व मे कलकत्ता से निकली। राजनीतिक पत्रिका होने पर भी इसने साहित्य की उल्लेखनीय सेवा की।

९. **नवनीत**—ग्रथ प्रकाशन समिति-काशी की ओर से सन् १९१३ से इसका प्रकाशन आरम्भ हुआ। श्री लक्ष्मणनारायण गर्दे इसके सपादक थे। इसके लेखको में पराडकर जी, गान्धी जी और बाबू सपूर्णानद जी मुख्य थे। यह उच्चकोटि की साहित्यिक पत्रिका थी।

१०. **नागरी प्रचारिणी पत्रिका**—काशी से प्रकाशित होने वाली यह पत्रिका

सन् १८९६ ई० से अब तक हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे उच्चकोटि की शोध पत्रिका बनी हुई है। यह कुछ वर्षों तक मासिक पत्रिका के रूप मे भी निकली थी। हिन्दी के बड़े-बड़े आचार्य इसके सपादकमडल मे रह चुके हैं—यथा, बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचद्र शुक्ल प० सुधाकर द्विवेदी, बाबू सपूर्णानन्द, श्री राधाकृष्ण दास, रामचद्र वर्मा, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि।

११ प्रभा—श्री कालूराम गगराडे के सपादकत्व मे सन् १९१३ से खडवा से इसका प्रकाशन प्रारभ हुआ। श्री गणेशशकर विद्यार्थी इसके सपादक रहे हैं। निराला और इलाचद जोशी का साहित्य अधिकाशत. इसी के माध्यम से प्रकाश मे आया।

१२. भारतजीवन—नाटक, उपन्यास, कहानी, गजल, कवित्त आदि से युक्त यह पत्र सन् १८८४ ई० से ही काशी से प्रकाशित होता आ रहा था। इसके सपादक बाबू रामकृष्ण वर्मा थे।

१३. भारतेन्दु—मूलत साहित्यिक पत्रिका भारतेन्दु का प्रकाशन एक सपादक मडल द्वारा सन् १९०५ मे चौखभा-काशी से आरभ किया गया था। भाषा का परिष्कार इसके प्रमुख उद्देश्यो मे से था। इससे काशी के अनेक मनीषी जुड़े हुए थे।

१४ मनोरंजन—यह पत्रिका सन् १९१२ मे शाहाबाद से निकली परन्तु तीन वर्ष बाद ही बद हो गई। यह भी शुद्ध साहित्यिक पत्रिका थी।

१५. मित्र—काशी उपन्यास कार्यालय से बाबू बालमुकुद वर्मा के सपादकत्व मे यह पत्रिका सन् १८८८ ई० से प्रकाशित होती आ रही थी। इसमे प्राय सभी साहित्य विधाएँ प्रकाशित होती थी।

१६ मर्यादा—प्रारभ मे सन् १९११ ई० से यह पत्रिका प० कृष्णकात मालवीय के सपादकत्व मे अभ्युदय प्रेस-प्रयाग से छप रही थी परन्तु आगे चलकर ज्ञानमडल प्रेस-काशी से छपने लगी। साहित्य जगत मे 'सरस्वती' के समान ही इसे भी आदर मिला। देश के सभी शीर्षस्थ विद्वान्, लेखक और नेता इससे जुड़े हुए थे।

१७. ललिता—श्री मुरारीलाल मामलिक द्वारा सपादित यह साहित्यिक पत्रिका सन् १९१८ ई० से मेरठ से छप रही है। इसका उद्देश्य इसके मुख-पृष्ठ पर छपता था, जो इस प्रकार है—

ललिता का है यह उद्देश्य।
हिंदी का प्रेमी हो देश॥

१८. लक्ष्मी—यह पत्रिका सन् १९०३ मे गया से प्रकाशित हुई परन्तु दो वर्ष

उपरान्त लाला भगवानदीन के सपादकत्व मे यह वाराणसी मे छपने लगी। इसने साहित्य के अनेक प्रतिमान कियस्पि येत।

१६ समालोचक—सन् १९०१ में इसका प्रकाशन प० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के सपादकत्व मे जयपुर से आरभ हुआ। यह तत्कालीन साहित्यिक पत्रिकाओ मे अपना स्थान बनाने मे सफल रही। इसके माध्यम से गुलेरी जी हिंदी जगत मे अपनी छाप छोड गये।

२० सरस्वती—सन् १९०१ मे इसका प्रकाशन बाबू श्यामसुन्दर दास के सपादकत्व मे इडियन प्रेस-प्रयाग से आरभ हुआ। इसके माध्यम से साहित्य की प्राय सभी विधाएँ विकसित हुई। हिन्दी पत्रिकाओ मे इसने मूर्धन्य स्थान प्राप्त किया। साथ ही अपने 'सरस्वती' नाम को पूर्णत सार्थक करके दिखा दिया। खडी बोली के परिमार्जन मे, उसे कविता की भाषा के रूप मे ढालने मे इसका स्थान शीर्षस्थ है। हिंदी जगत इस पत्रिका का चिर ऋणी रहेगा। इसके सपादक के रूप मे आचार्य महावीर द्विवेदी ने विविध ज्ञान विषयक चेतना को बटोरने और विकसित करने का चिरस्मरणीय कार्य किया। वस्तुत यह पत्रिका उनकी यश काया की जीवन्त प्रतिमा है।

२१ सुदर्शन—आधुनिक आलोचना का सूत्रपात करने वाली इस पत्रिका ने सन् १९०० से १९१६ ई० तक हिंदी साहित्य की अविस्मरणीय सेवा की। इसके सपादक प० माधवप्रसाद मिश्र और बाबू देवकीनन्दन खत्री थे।

२२ हिन्दी प्रदीप—सन् १८७७ से १९०७ के बीच विक्टोरिया प्रेस-प्रयाग से प्रकाशित होने वाली यह पत्रिका नाटक, उपन्यास, निबध, कहानी, समालोचना और कविता आदि सभी के विकास के उज्ज्वल इतिहास से मडित है। प० बालकृष्ण भट्ट इसके सपादक थे।

२३. हितवार्ता—सन् १९०६ मे इसका प्रकाशन प्रारभ हुआ। इसके लेखक मडल मे प० गोविन्दनारायण मिश्र, अबिकाप्रसाद वाजपेयी, गणेशशकर विद्यार्थी, मुशी देवीप्रसाद और श्री विशुद्धानद जी आदि थे। यह साहित्य की उच्च कोटि की पत्रिका थी। इसके सपादक प० कालीप्रसन्न जी थे।

इन साहित्यिक मासिको के साथ ही हिंदी भाषा और साहित्य के सवर्द्धन मे 'कवीन्द्र वाटिका', 'कवि कौमुदी', 'भाषा चन्द्रिका', 'मनोरमा', 'युगान्तर', 'रसिक रहस्य', 'समन्वय', 'सम्मेलन पत्रिका', 'साहित्य पत्रिका', 'सुधानिधि' और 'हिंदी गल्पमाला' आदि का योगदान भी उल्लेखनीय रहा है।

युगीन साहित्य को इस युग की पत्रकारिता की देन

इन पत्र-पत्रिकाओ के माध्यम से ही गुलेरी, प्रेमचद, प्रसाद, किशोरीलाल गोस्वामी, वृन्दावनलाल वर्मा, श्यामसुन्दर दास, मिश्र बन्धु, हरिऔध, शिवपूजन सहाय,

लाला भगवानदीन, बालमुकुन्दगुप्त, पद्मसिंह शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, गोबिन्दनारायण मिश्र, पाडेय बेचन शर्मा उग्र, पराड़कर जी जैसे पत्रकार एवं गद्यकार हिंदी को प्राप्त हुए। श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, प्रसाद, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, निराला जैसे कवियो को प्रकाश मे लाने का श्रेय इन्ही पत्र-पत्रिकाओ को है। गद्य की जितनी विधाएँ आज प्रचलित हैं उन सबका सूत्रपात या विकास इसी युग मे हुआ था। भारतेन्दु युग मे जो खडी बोली काव्य-भाषा नही बन पाई थी, वह इस युग मे काव्य-भाषा के रूप मे पूर्णत: प्रतिष्ठित हो गई। छायावाद का शुभारभ भी इसी युग मे हुआ।

काव्य को स्वतत्रता और मानवतावाद का सदेशवाहक बनाने मे, निबन्ध की अनेक विधाओ को वैभव सपन्न बनाने मे, अनूदित साहित्य की परिधि का विस्तार करने मे, हिंदी और देवनागरी के प्रचार-प्रसार एव परिष्कार करने मे, साहित्य की समाज या लोक-धर्मिता को सपुष्ट करने मे और साहित्य-क्षेत्र का बहुमुखी विकास करने मे इस युग के पत्रो का अविस्मरणीय योगदान है।

तेभ्यो महद्भ्यो नमः

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : कुछ संस्मरण

—डा० कृष्णदत्त वाजपेयी, डी० लिट्०
पूर्व अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग, सागर विश्वविद्यालय

अर्वाचीन भारतीय विभूतियो मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का उल्लेखनीय स्थान है। आधुनिक हिंदी के निर्माता-रूप मे वे अमर हैं। उनका जन्म उत्तर प्रदेश मे रायबरेली जिला के दौलतपुर नामक एक छोटे गाँव मे कान्यकुब्ज वश मे वैशाख शुक्ल ४, विक्रम सवत् १६२१ को हुआ। वर्तमान वर्ष उनका एक सौ पचीसवाँ जन्माब्द है।

बैसवारा क्षेत्र उनकी कर्मभूमि होने से धन्य हुआ। उनका सपूर्ण जीवन हिंदी भाषा और साहित्य को समर्पित था। उनका निश्चित मत था कि महान् सस्कृति के धनी भारत की अपनी एक राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। अब से डेढ हजार साल पहले समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ब्राह्मी लिपि और सस्कृत भाषा को देश की राष्ट्रीय लिपि और भाषा बनाने का सराहनीय कार्य किया था। भास, कालिदास, बाणभट्ट—जैसे लेखको ने आदिकवि वाल्मीकि और महर्षि पाणिनि की भाषा सस्कृत को मान्यता प्रदान की। उन सबके सम्मिलित प्रयासो के फलस्वरूप सस्कृत न केवल सारे देश की प्रमुख भाषा बनी, अपितु उसका प्रसार एशिया के अन्य देशो मे हुआ।

पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का अध्ययन कष्टमय परिस्थितियो मे पूरा हुआ। वे यथेष्ट उच्चशिक्षा से वचित रहे। उनके जैसा मेधावी व्यक्ति विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त कर अपनी प्रतिभा को अधिक उजागर कर सकता था, पर यह सभव न हुआ। जीविका-उपार्जन हेतु उन्हे नौकरी करनी पडी। पर राष्ट्रीयता की जो भावनाएँ उनके भीतर हिलोरें ले रही थी उन्होने द्विवेदी जी की महानता को निरतर विकसित किया। शालेय अध्ययन से उपार्जित सीमित ज्ञान को द्विवेदी जी ने निजी अध्ययन और चिंतन से समृद्ध किया। यह देखकर विद्वानो को भी बडा आश्चर्य होता था कि साधारण साधनो वाला यह व्यक्ति कैसे इतना बडा विचारक और लेखक बन गया। साथ ही विदेशी भाषा अग्रेजी के लेखन मे भी वे कुशल थे। उनकी अग्रेजी को देखकर तिलक और गाधी जी की भाषा का स्मरण हो आता है।

मेरा यह सौभाग्य था कि सन् १९३१ और ३८ के बीच उनका स्नेहपूर्ण आशीर्वाद मुझे निरंतर प्राप्त होता रहा। उनके ग्राम दौलतपुर (जिला रायबरेली) तथा मेरे जन्मस्थल रायपुर के बीच बहुत कम दूरी थी। पास मे नीबी नामक गांव के आदरणीय वयोवृद्ध पंडित प्रयागनारायण तिवारी की अनुकपा से मुझे १९३५ मे द्विवेदी जी के प्रथम दर्शन का सौभाग्य मिला। द्विवेदी जी से तिवारी जी का मैत्री-सबध था।

द्विवेदी जी का आवास, उनका समृद्ध पुस्तकालय तथा उनकी कार्यप्रणाली देखकर मैं बहुत प्रभावित हुआ। उनका प्रत्येक क्षण मूल्यवान था। किसी से भी अनावश्यक बात उन्हें बहुत अखरती थी। साहित्य के इस महान साधक से मुझे जो प्रेरणा प्राप्त होती रही उससे मेरे भावी जीवन-निर्माण में बड़ी सहायता मिली। वे उन महापुरुषों के जीवित उदाहरण थे जिनके लिए कहा गया है "वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि" (वज्र से भी कठोर तथा फूल से अधिक कोमल)।

अपनी जन्मभूमि दौलतपुर से उन्हें हार्दिक लगाव था, अन्यथा वे कानपुर, प्रयाग, काशी आदि कहो भी बस कर वहाँ के लोगो का प्रचुर प्रेम और सम्मान प्राप्त कर सकते थे। उनके अंतिम वर्ष दौलतपुर मे ही बीते। दौलतपुर को वे एक आदर्श ग्राम बनाना चाहते थे। अनेक कठिनाइयो के बावजूद वे चाहते थे कि उनके परिजन और पुरजनो मे अच्छे सस्कारो का विकास हो। उन्हे दु:ख था कि इस सत्प्रयास मे उन्हे यथेष्ट सफलता न प्राप्त हो सकी।

१९३६ में मैंने शासकीय उच्च विद्यालय, रायबरेली से हाई स्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की। श्रद्धेय द्विवेदी जी को इसका समाचार देने तथा उनका आशीर्वाद प्राप्त करने जब मैं उनके समीप पहुँचा तो उन्होने प्रसन्नता व्यक्त की। उन्होंने उस समय मुझे आदेश दिया कि कठिन श्रम के साथ अपना आगे का अध्ययन जारी रखूँ तथा सस्कृत और हिंदी के अध्ययन मे विशेष रुचि लूं। इंटरमीडिएट मे अध्ययन के लिए मैंने बी. एन. एस. डी. कालेज, कानपुर को चुना। वहाँ के प्राचार्य श्री हीरालाल खन्ना का मुझे प्रभूत स्नेह मिला। मेरे पाठ्य-विषयो मे सस्कृत और हिंदी भी थे। कानपुर रहने से मुझे यह लाभ भी मिला कि यदा-कदा वहाँ आचार्य द्विवेदी जी के आने पर उनके दर्शनो का तथा उनसे सीखने का सुयोग मिल जाता था।

एक बार द्विवेदी जी ने कहा था कि लेखक को ज्ञानी होने के साथ शारीरिक रूप से भी शक्तिशाली होना चाहिए, तभी उसके लेखन का अधिक प्रभाव पड़ सकता है। विनोद मे उन्होने पडित सूर्यकात 'निराला' का उदाहरण दिया था। वसिष्ठ ऋषि से द्विवेदी जी बहुत प्रभावित थे और कहते थे कि शास्त्र और शस्त्र, दोनो की जरूरत लेखक के लिए होती है। उन्हे यह श्लोक बहुत प्रिय था :—

"अग्रतश्चतुरो वेदा:, पृष्ठतः सशरं धनु: ।
इद ब्राह्मं इद क्षात्र, शापादपि शरादपि ॥"

अर्थात्, मुख मे चारो वेदो का ज्ञान हो और पीठ पर धनुर्बाण रहे । इससे ब्राह्मणों तथा क्षत्रिय—दोनो के गुणो का समन्वय होता है—एक वाणी से शाप देने मे समर्थ है और दूसरा बाण द्वारा रक्षा करने मे ।

प्राचीन स्मृतिकार मनु का यह कथन भी वे उद्धृत करते थे—"शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे, शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते ।" अर्थात्, पहले राष्ट्र की रक्षा शस्त्र द्वारा होनी आवश्यक है, तभी ज्ञान-विज्ञान का उत्थान संभव है ।

सस्कृत और हिंदी के प्रति समर्पित होने के साथ द्विवेदी जी पुरातत्व-इतिहास तथा दर्शन मे विशेष रुचि लेते थे । वे कहते थे कि "सरस्वती" पत्रिका तथा अन्य माध्यमो से हमे यह करना है कि हिंदी के पाठकों को अपने देश मे तथा बाहर हो रहे ज्ञान-विज्ञान के विकास की जानकारी मिलती रहे । वे यह चाहते थे कि हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के लेखक पर्याप्त अध्ययन करने के बाद ही कुछ लिखे ।

हिंदी भाषा के परिष्कार के साथ द्विवेदी जी को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने भारतीय परपरा के उदात्त तत्वों के प्रचार-प्रसार मे तथा यूरोप, अमेरिका मे हो रहे नए अनुसधानो को सर्वसुलभ बनाने मे अथक परिश्रम किया । अनेक विषयो पर उन्हे लेख न मिलते थे, तब उन्हे स्वय उनकी तैयारी मे घोर श्रम करना पडता था । "भुजग-भूषण, भट्टाचार्य", जैसे अनेक छद्म नामो से वे विविध विषयो पर लिखते थे ।

अधिक श्रम का उनके स्वास्थ्य पर खराब असर पडा । उनके उन क्षणो का स्मरण कर मैं सिहर उठता हूँ जब कानपुर और दौलतपुर मे उन्होने अपनी रुग्णावस्था मे भी अपना लेखन-कार्य जारी रखा । यह कार्य शुद्ध राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत था । वे प्राय कालिदास की यह उक्ति दुहराते थे "यस्यागम केवलजीविकाये त ज्ञानपण्य वाणिज वदन्ति ।" (अर्थात्, जो अपने ज्ञान का उपयोग केवल जीविका-साधन हेतु करता है वह विद्या की बनियागीरी करता है ।)

१९३८ मे इण्टर परीक्षा पास कर लेने के बाद मेरे अभिभावक पूज्य बड भाई श्री सूर्यदीन वाजपेयी की इच्छा थी कि आगे का अध्ययन मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में करूँ । इसके पहले कि इसके लिए तैयारियाँ शुरु हो वे मुझे आचार्य जी के पास उनकी अनुमति प्राप्त करने के लिए ले गये । आचार्य जी ने सुनते ही कहा प्रयाग नहीं, काशी विश्वविद्यालय मे पढना उपयुक्त रहेगा । उन्होंने कहा कि इतिहास, भारतीय सस्कृति आदि के अध्ययन के लिए हिंदू विश्वविद्यालय अधिक उपयुक्त रहेगा । हमने

उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। आचार्य जी ने कुलपति श्रद्धेय मदनमोहन मालवीय जी के नाम अपना एक पत्र भी मुझे दिया। काशी पहुँचकर मैंने वह पत्र महामना जी को दिया। उन्होने कहा कि मैं खूब श्रम से अध्ययन करूँ। द्विवेदी जी ने अपना बचा हुआ कुछ रुपया हिंदू विश्वविद्यालय मे इसलिए जमा कर दिया था कि उसके ब्याज से दस रुपया मासिक छात्रवृत्ति बी. ए मे पढने वाले योग्य विद्यार्थी को दी जाये। इसका पता मुझे वहाँ पहुँचने पर चला। मुझे "पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी छात्रवृत्ति" प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। यह मेरे लिए गौरव की बात थी।

आचार्य जी को मैं समय-समय पर अपने अध्ययन की सूचना देता रहता था। छुट्टी मे एक बार घर जाने पर मैने दौलतपुर मे उनके दर्शन किये। यह मुझे ज्ञात न था कि उनके ये अ तिम दर्शन होगे! कुछ समय बाद ही यह अत्यन्त कष्टप्रद समाचार सुनने को मिला कि आचार्य जी दिवगत हो गये! बैसवाड़ा, सम्पूर्ण देश और साहित्य-जगत् की यह अपूरणीय क्षति थी।

आज द्विवेदी जी का भौतिक शरीर नही है, पर उनका यश शरीर अमर रहेगा.

"जयन्ति ते सुकृतिन रससिद्धाः कवीश्वरा।
नास्ति येषा यश. काये जरामरणज भयम्॥"

उनका यह पुण्य वर्ष भी है। अब से ठीक पचास साल पहले १६३८ ई० मे उनका देहावसान हुआ। द्विवेदी जी की पावन स्मृति को मेरी निम्नाकित पक्तियाँ सादर समर्पित हैं

—१—

दौलतपुर की पुण्य धरित्री को असीम आह्लाद मिला,
रामभक्त श्री महावीर का जिस दिन उसे प्रसाद मिला।
महावीर की अनुकपा से जन्म हुआ प्रिय बालक का,
हिंदी के भावी सस्कारक, नीति-रीति के पालक का।

—२—

स.धन के अभाव मे उसको मिल न सकी समुचित शिक्षा,
ज्ञान-प्राप्ति के हेतु योग्य गुरु से वह ले न सका दीक्षा।
सस्कृत-हिंदी-अग्रेजी-उर्दू का ज्ञान किया अर्जित,
स्वाध्याय-चिंतन से उसको किया निरतर परिमार्जित।

—३—

रेल-चाकरी के द्वारा वह उदर-पूर्ति को बाध्य हुआ,
फिर भी कहाँ अल्प वेतन से जीवन-यापन साध्य हुआ ?
मनोयोग से सेवारत था वह अग्रेजी शासन मे,
था कठोर नियमो का पालक, ढील न दी अनुशासन मे।

—४—

'दो वेदो का ज्ञान न हो तो व्यर्थ "द्विवेदी" कहलाना'
यह चिंता थी उसे सताती—ज्ञान बिना अनुचित बाना।
प्रखर साधना की तब उसने निगमागम-अनुशीलन से,
कोश-व्याकरण, काव्यशास्त्र वेदात-तत्त्व परिशीलन से।

—५—

काव्य नही होता लोकप्रिय जिसमे प्रेरक शक्ति न हो,
भाव-प्रवणता, शील-चारुता की जिसमे अभिव्यक्ति न हो।
शब्द-ज्ञान के बिना कहाँ लेखक बन सकता है कोई ?
और साधना बिना सफलता प्राप्त कर सका क्या कोई ?

—६—

महावीर ने सारस्वत आदर्शों का निर्वाह किया,
तुलसी-सूर-जायसी-भाषा को युग-रूप प्रवाह दिया।
भारतेन्दु-श्रीधर पाठक की परपरा को सबल किया,
"हिंदी मे सामर्थ्य अतुल है", घोषवाक्य यह नवल दिया।

—७—

एक हाथ मे शास्त्र, दूसरा शस्त्र-ग्रहण मे हो समर्थ,
लेखन का साफल्य तभी है, सब प्रयास अन्यथा व्यर्थ।
कृष्ण और अर्जुन का सगम महावीर मे मुखर हुआ,
गीता और सव्यसाची का समाहार अति प्रखर हुआ।

—८—

"सरस्वती" के संपादन का कठिन भार फिर वहन किया।
आक्षेपो-निदाओ के आघातो को था सहन किया।
गुरु आलोचक का कठोर दायित्व निबाहा लेखन में,
भाषा का सस्कार किया, दी उसे प्रतिष्ठा जीवन में।

—९—

हिंदी-संस्कृत मे प्रभूत रचनाएँ की उस सुकृती ने,
देश-विदेशो मे भारत की कीर्ति प्रसारी सुव्रती ने।
हे विराट, हे महाप्राण, तुम महाकाल मे लीन हुए।
वैखानस-व्रत का पालन कर, जन्म-मरण से हीन हुए।

—१०—

धन्य बैसवारा की धरती पाकर महावीर-सा पूत,
अंतर्वेदी मे तुम आये बनकर सरस्वती के दूत;
जब तब ज्योतिर्मय हिंदी है, और व्योम मे ध्रुवतारा,
तब तक सुयश तुम्हारा ऋषिवर, जब तक गंग-सई धारा।

आचार्य द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ से कुछ श्रद्धा-संदर्भ

संकलन—**कु० अपर्णा पालीवाल**, एम० ए०

पूज्य द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के प्रचार और प्रसार के किसी अंग को नही छोडा। अन्य भाषाओं के पत्रो मे निकले हुए अच्छे लेखो का स्वाद अपने पाठको को चखाते हुए उनकी दाद देना और उचित प्रशसा करना आपके सपादन की विशेषता थी। आपने पाठको की जानकारी के क्षेत्र को विस्तीर्ण कर दिया, अपने लेखको को उनके विस्तार मे सहायक होने को प्रोत्साहित किया, साथ ही कई लेखको को आप और क्षेत्रो से लाने मे भी समर्थ हुए।

—रामदास गौड, पृ० ५२७

द्विवेदी जी असाधारण पुरुष-पुगव हैं। वे जैसे विद्वान और बहुज्ञ हैं, वैसे ही प्रतिभाशाली और क्षमतावान भी हैं। उनकी विद्वत्ता और बहुज्ञता का परिचय जहाँ उनकी चारु कृतियाँ देती हैं, वहाँ उनकी कृतियो की प्रत्येक पक्ति से उनकी प्रतिभा और क्षमता का भी ज्ञान होता है। और यही वे गुण हैं जिनकी बदौलत उन्होने विश्वामित्र की भाँति लडकर ब्राह्मणत्व रूपी हिन्दी के आचार्यत्व जैसे उच्च पद को प्राप्त किया है। द्विवेदी जी का जीवन ऐसा ही उत्साहपूर्ण और स्वाभिमान-व्यजक रहा है।

—देवीदत्त शुक्ल, पृ० ५४०

मेरी समझ से पूज्य द्विवेदी जी नई हिन्दी के पथ प्रदर्शक है। उन्होने हिन्दी ससार मे अपनी एक विशिष्ट लेखन-शैली और सपादनकला का प्रवेश कराया है।

—हरिभाऊ उपाध्याय, पृ० ५४४

साहित्य की प्रारम्भिक अवस्था मे जिन विद्वान् लेखको ने निष्काम भाव से अपने स्वास्थ्य को खोकर इसका मार्ग विशाल बनाया, ककड-पत्थर बीने, झाड-झखाड और काँटो को जलाया, जरा उनके परिश्रम पर गभीरता से विचार कीजिए। इतना ही नही, बल्कि उनके परिश्रम का भावी परिणाम क्या

होगा, उस पर दूर तक नजर दौड़ाइये। यदि आप ऐसा कर सकते हैं तो आपको हिंदी-साहित्य के मार्ग को प्रशस्त करने वाले आचार्य पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की कठिनाइयों, उनके बलिदान और उनकी रातों जागकर काम करने वाली लेखनी का चमत्कार मालूम हो सकेगा।

—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृ० ५४५

"द्विवेदी जी की नम्रता और साधुता, सत्यता और उदारता, उन लोगों को भली-भाँति विदित है जिनका उनके साथ तनिक भी सम्बन्ध रहा है। मुझ जैसे कितने ही मनुष्यों की रुचि हिन्दी में उन्हीं की बदौलत जागरित हुई। मातृ-भाषा की उन्नति हुए बिना भारतवर्ष में स्वराज्य स्थापित होना दुस्तर है, यह भाव प्रत्येक मित्र के हृदय पर अंकित करने से वे कदापि न चूकते थे। शायद राजनीतिक मामलों में प्रकट रूप से उन्होंने कभी भाग नहीं लिया, परंतु उनका हृदय स्वदेश-प्रेम से सदा परिपूर्ण रहा। हिंदी की उन्नति द्वारा हिंदोस्तान को समुन्नत करने में ही उन्होंने अपनी मुख्य मातृसेवा समझी।"

—देवीप्रसाद शुक्ल, पृ० ५३५

१. द्विवेदी जी हिंदी-साहित्य में केवल ज्ञान का द्वार उन्मुक्त करके नहीं रुक गये। उन्होंने सच्चे सेवक की तरह हिंदी-साहित्य के मंदिर को कलुषित होने से बचाया। उन्होंने हिन्दी-साहित्य को सदैव उच्च आदर्श पर रखने की चेष्टा की। क्या भाषा और क्या भाव, कहीं भी उन्होंने विकार नहीं आने दिया। जहाँ उन्होंने भाषा या भाव-सबन्धी कालुष्य देखा, वहीं उसका विरोध किया, फिर चाहे उसका प्रवर्तक कितना ही बड़ा साहित्य-सेवी या विद्वान क्यों न हो। असत्य का उन्होंने सदा मूलोच्छेद ही किया। साहित्य में सस्ती कीर्ति लूटने वालों के लिये उन्होंने जगह ही नहीं रक्खी।

२. यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिंदी साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिन्दी-साहित्य-गगन में सूर्य, चन्द्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पद्माकर आदि कवि साहित्याकाश के दैदीप्तमान नक्षत्र हैं। परन्तु मेघ की तरह ज्ञान की जल-राशि देकर साहित्य के उपवन को हरा-भरा करने वालों में द्विवेदी जी की ही गणना होगी।

—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
पृ० ५३७—५३८

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी भाषा को स्थिर रूप देने में बडा भाग लिया है। कई मौलिक रचनाएँ रचकर और संस्कृत तथा अंग्रेजी की कई पुस्तकों का अनुवाद करके द्विवेदी जी ने हिन्दी पर बडा उपकार किया है। हिन्दी-पत्र-कला के आचार्य होने से, उन्होंने कई लेखकों को बनाया है। यह भी उनका हिन्दी पर ही उपकार है।

मेरे लिए हिन्दू संस्कृति और हिन्दुत्व दो पर्यायवाची शब्द हैं। द्विवेदी जी ने भाषा द्वारा हिन्दुत्व की रक्षा तथा विकास किया है, अत. मेरे लिए वे मान्य हैं।

—भाई परमानन्द, पृ० ५३६

आज द्विवेदी शब्द किसी व्यक्ति का बोधक नही, बल्कि एक स्कूल या सम्प्रदाय का परिचायक है, जिसमे हजारो ऐसे नवयुवक लेखको और कवियो की सख्या गिनाई जा सकती है, जो अपने पूज्य गुरुवर्य आचार्य द्विवेदी जी की गद्यशैली और पद्य-प्रणाली का अनुकरण करते हुए उनके सम्प्रदाय को चला रहे हैं।

—लक्ष्मीधर वाजपेयी, पृ० ५६२

ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल

संस्कृत-साहित्य से संबद्ध इनके निबन्ध विविध प्रकार के हैं जिनमे आलोचना के विविध रूप दिखाई पड़ते हैं। जैसे—

(ख) शोधपरक आलोचना—

१. कालिदास का स्थिति काल—इसमें शोध की दृष्टि निहित है।

(ग) कवि-समीक्षा—

इसमे भी कवियों द्वारा वर्णित विशिष्ट विषयों का परिचय दिया गया है।

२-श्री हर्ष का कलियुग, ३-महाकवि माघ की राजनीति, ४-महाकवि माघ का प्रभात वर्णन, ५-कवियो की निरकुशता (सुकवि सकीर्तन), ६-दिक्पालो की विरल व्यथा (नल चपू से)।

इस प्रकार की आलोचना मे परिचय और वर्ण्य-विषय के सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने के लिए मूलपाठो के हिन्दी रूपान्तरो की अतिशयता कर दी गई है। उदाहरणार्थ कुछ स्थल देखे जा सकते हैं—

"बुद्धिमान् वही है जो अपना कार्य साधन कर ले। उसे सुकवि के मार्ग का अवलबन करना चाहिए। सत्कवि न तो अकेले शब्द-समूह का ही आश्रय लेता है, न अकेले अर्थ का ही। वह दोनो का आश्रय लेता है—शब्द का भी और अर्थ का भी।"

(माघ की राजनीति)

'उदयाचल के शिखररूप आँगन में बाल सूर्य को खेलते हुए धीरे-धीरे रेंगते देख कमिलिनियो को बड़ा प्रमोद हुआ।' (माघ का प्रभात वर्णन)

'तथापि रामोलुलुभे मृगाय' में 'लुलुभे' के प्रयोग पर टिप्पणी एवं व्याकरणिक त्रुटि का उल्लेख करना। (कालिदास की निरकुशता)

(घ) पुस्तक समीक्षा—

आचार्य द्विवेदी 'सरस्वती' जैसी अपने युग की ख्याति-प्राप्त पत्रिका के सपादक थे, अतः नई हिन्दी की पुस्तको की तरह नई प्रकाशित सस्कृत पुस्तके भी उनके पास समीक्षा के लिए आती रहती थीं। द्विवेदी जी उन पर विस्तृत समीक्षाएँ प्रस्तुत करते थे। वे समीक्षाएँ आजकल की तरह लघु टिप्पणियो तक सीमित नही होती थी। वे पुस्तक के वर्ण्य-विषय का विस्तृत परिचय देते हुए, उसकी विशेषताओ का उल्लेख करते थे, अतः वे समीक्षाएँ एक विस्तृत निबन्ध का रूप ले लेती थी। सस्कृत पुस्तको की ऐसी समीक्षाओ मे—

१-जगद्धर भट्ट की स्तुति कुसुमाञ्जलि, २-रुक्मिणी हरण, ३-विश्वगुणादर्श, ४-हम्मीर महाकाव्य, ५-वेणी संहार नाटक आदि मुख्य हैं।

आचार्य द्विवेदी की आलोचनाशैली के परिचय के लिए स्तुति कुसुमाजलि और विश्वगुणादर्श के कुछ उद्धरण ही पर्याप्त होंगे।

१ **स्तुति कुसुमाञ्जलि**—मे कवि, टीकाकार और ग्रन्थ का विस्तृत परिचय देकर स्तोत्र साहित्य पर एक विहगम दृष्टि डाली गई है और कहा गया है कि 'परन्तु हमारी सम्मति तो यह है कि स्तुति साहित्य मे इस कुसुमाञ्जलि से बढ कर कोई ग्रन्थ नही।'

'स यस्य पापद्वयमिद्ध शासन
सदा समभ्यर्चति पाकशासन।
प्रभु. प्रसादामलया ८शा स न
क्रिया विपद् भङ्गमनङ्ग शासन॥ स्तु० कुसु० ७।५॥

'कैसी ललित रचना है। कैसा स्वाभाविक अनुप्रास और यमक है। साथ ही प्रसाद गुण की भी कितनी पूर्णता इस पद्य मे है। इद्धशासन, पाकशासन, दृशासन और अनङ्गशासन—ये सभी पद पढते ही ध्यान मे आ जाते हैं। सब कही 'शासन' की सिद्धि होने पर भी अर्थज्ञान मे जरा भी बाधा नही आती।'

२. **विश्वगुणादर्श**—

कुछ लोगो का ख्याल है कि सस्कृत भाषा के ग्रन्थसाहित्य मे समालोचना का अभाव है। यह ख्याल ठीक नही। 'बात यह है कि दोष देखने वाली आँख ही जुदा होती है। उसके अस्तित्व मे गुणी के गुण नही दिखाई देते, प्रत्युत उसके गुण भी दोष ही बन जाते हैं। और दोष ? वे तो हजार गुना बडे होकर दिखाई देने लगते है।'

'हम आपका परिचय एक ऐसी पुस्तक से कराने जाते है, जिसमे आदि से लेकर अत तक ऐसे सैकडों दोषो की उद्भावना की गई है जिन्हे दुनिया दोष ही नही समझती और वह पुस्तक है किस भाषा मे, आप जानते हैं ? वह है उसी सस्कृत भाषा मे, जिसमे बहुत लोग समालोचना ग्रन्थो का अभाव समझते हैं, उसका नाम है विश्वगुणादर्श।

पुस्तक समीक्षा की योजना प्राय सर्वत्र एक जैसी है। कवि, टीकाकार, ग्रन्थ के आकार और वर्ण्य विषय का परिचय देने के बाद द्विवेदी जी ने काव्य-सौन्दर्य के उद्घाटन सहित निजी सम्मति का यत्र-तत्र प्रकाशन किया है।

गुणादर्श चम्पू में दो गन्धर्व-पात्रो विश्वावसु और कृशानु की यात्राओ का वर्णन किया गया है। विश्वावसु गुणदर्शी है और कृशानु दोषदर्शी। कृशानु, सूर्य, नारायण, राम,

गगा आदि सबमे दोष ही दोष देखता है। काशी के ब्राह्मणो की भी उसने निन्दा की। विश्वावसु ने श्रीकृष्ण को वदारुजवदन, यदुनदन और भगवदवतार बताया और कृशानु ने जार-चौर-शिखामणि।

द्विवेदी जी अपनी आलोचना मे कहते हैं—'कवि का भूगोलज्ञान भी भ्रमपूर्ण है क्योकि काशी के आसपास के प्रान्त छोडकर वह वहाँ से गधर्वयुग्मो को समुद्र के पास ले पटकता है, और वहाँ, जगन्नाथपुरी दिखा कर गुजरात पहुँचा देता है।' 'कहाँ गुजरात कहाँ यमुना ? पर वेंकटाध्वरि ने गुजरात देश के दर्शन करा कर गधर्वो को यमुना तट पर पहुँचा दिया।"

'उनका विश्व इतने मे ही खत्म हो गया है। उनके वर्णन के अनेक स्थल बडे ही मनोरम हैं। खेद है हम उन सबके नमूने दिखाने मे असमर्थ हैं। क्योकि लेख का विस्तार बढ जाएगा।'

(ङ) विविध—

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का सस्कृतप्रेम, हिन्दी-प्रेम से कम नही था। उन्होने सस्कृत-साहित्य के विविध अगो पर व्यापक रूप से विचार किया। विदेशियो के संस्कृत-प्रेम के लिए उनके मन मे अत्यन्त आदर था। निम्नलिखित निबन्धो के शीर्षक इस तथ्य के साक्षी हैं—

१ सस्कृत साहित्य का महत्त्व।
२. सर विलियम जोन्स ने कैसे सस्कृत सीखी।
३ पुराने अग्रेज अधिकारियो के सस्कृत पढने का फल।
४ योरप के विद्वानो के सस्कृतलेख और देवनागरी लिपि।
५ सस्कृत साहित्य विषयक विदेशियो की ग्रन्थ-रचना।

जर्मनी आदि के विद्वानो द्वारा किए गए कार्यों और ५६ ग्रन्थो की सूची देकर विदेशियो की ग्रन्थ-रचना पर प्रकाश डालते हुए उन्होने वैदिक साहित्य, वेदाग और पुराणो पर उनके कार्यों की सराहना करते हुए लिखा है कि 'उसकी चौथाई भी शायद इस देश मे न हुई होगी।' बर्लिन के पुस्तकालय के सूचीपत्र का मूल्य १५०) रुपये है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का मुख्य लक्ष्य भारतीयो, विशेषत हिन्दी-पाठको का ध्यान समृद्ध सस्कृत साहित्य की ओर आकृष्ट करना था। सस्कृत-समालोचना के लिए भी वे हिन्दी के समान ही एक मानदण्ड निर्धारित करना चाहते थे। परिचयात्मक आलोचना के अन्तर्गत ही उन सभी प्रकार की आलोचनात्मक पद्धतियो के दर्शन हो जाते हैं, जिन्हे बाद मे नए-नए नाम दे दिए गए।

उनकी किसी भी परिचयात्मक आलोचना को देखा जाय उसमे शोध-दृष्टि भी है, तुलना भी। अपना निर्णय देने मे भी वे नही चूकते, जो निर्णयात्मक समीक्षा का प्राण है। पुस्तक समीक्षाओ मे प्रभाववादी समीक्षा के साथ-साथ गुण–दोष विवेचन की पद्धति अपनाई गई। उनकी समालोचना की भाषा सरल, सुबोध और सामान्य पाठक के लिए भी ग्राह्य है। उनकी भाषा सूक्तियो, मुहावरो और सस्कृत उद्धरणो से सवलित है। हिन्दी समालोचको का ही नही, सस्कृत समालोचको का भी उन्होने मार्गदर्शन किया। हिन्दी और सस्कृत दोनो की समालोचनाओ का एक सुनिश्चित और ठोस धरातल उन्होने ही प्रदान किया।

आचार्य द्विवेदी जी : घर में

—पण्डित रामस्वरूप दुबे
सेवानिवृत्त सूचना अधिकारी
गगा घाट, उन्नाव

हिन्दी साहित्य-निर्माता, परिष्कारक और पथ-प्रदर्शक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तिगत जीवन का परिचय हमे उनके आत्मकथात्मक लेख, सम्बधित सस्मरणो और उनके द्वारा लिखे पत्रो से मिलता है। दौलतपुर के इस ब्राह्मण का जीवन कितना कष्ट-मय था, उन्ही के शब्दो मे देखें— "मै एक देहाती का एकमात्र आत्मज हूँ, जिसका मासिक वेतन सिर्फ दस रुपया था। अपने गाँव के देहाती मदरसे मे थोडी-सी उर्दू और घर पर थोडी-सी सस्कृत पढकर तेरह वर्ष की उम्र मे ३६ मील दूर, र.यबरेली के जिला स्कूल मे अग्रेजी पढने गया। आटा-दाल घर से पीठ पर लाद कर ले जाता, दो आने महीना फीस देता था। दाल ही मे आटे के पेडे या टिकियाएँ पका पेट-पूजा करता था। रोटी बनाना तक मुझे आता ही न था। सस्कृत भाषा उस समय उस स्कूल मे वैसी ही अछूत समझी गयी थी, जैसी कि मद्रास मे नम्बूदरी ब्राह्मणो मे वहाँ की शूद्र जाति समझी जाती है। विवश होकर अग्रेजी के साथ फारसी पढता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ काटा। फिर पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलो मे चार वर्ष काटे। कौटुबिक दुरवस्था के कारण मैं इससे आगे न बढ सका। मेरी स्कूली शिक्षा की वही समाप्ति हो गयी।"

भरण-पोषण के लिए उन्हे नौकरी करनी पडी। अजमेर मे पद्रह रुपये महीना वेतन पर एक साल तक काम किया। तार का काम सीखकर जी० आई० पी० रेलवे मे बीस रुपये मासिक पर तार बाबू बने और फिर नए-नए काम सीखते रहकर इक्कीस वर्ष तक नौकरी करके वे दो सौ रुपये माहवार पाने लगे। किन्तु, उनके द्वारा किसी को कष्ट हो, उस पर कोई अत्याचार हो, यह उन्हे सहन न था। उन्हे जब आदेश हुआ कि अधीन कर्मचारियो को लेकर प्रतिदिन सुबह आठ बजे कार्यालय आ जाया करें और सभी कागजात मेज पर ठीक दस बजे रख दिये जाया करें। द्विवेदी जी ने उत्तर दिया कि वे आयेंगे पर और लोगो को आने के लिए लाचार न करेंगे। बात बढने पर उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया।

उनका विवाह किशोरावस्था में ही हो गया था। पत्नी के प्रति वे अत्यत स्नेहिल थे, सच्चे अर्थों मे जोवन-सगिनी एव सहधर्मिणी मानते थे और परामर्श को महत्त्व देते

थे। त्यागपत्र वापस ले लेने के लिए उन्हे संकेत मिले, समझाया गया और सिफारिशें भी हुई किन्तु वे अडिग रहे। पत्नी से पूछा तो विषण सहधर्मिणी ने कहा— "क्या थूककर भी कोई उसे चाटता है ?" द्विवेदी जी को सहारा मिला, वे प्रसन्न हो उठे और बोले— "नही, ऐसा कभी न होगा। तुम धन्य हो।"

उसके पश्चात द्विवेदी जी ने सन् १६०४ मे इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित साहित्यिक मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य तेईस रुपये मासिक—बीस रुपये वेतन और तीन रुपये डाकव्यय स्वीकार करके जीवन-यापन आरम्भ कर दिया। इतनी अल्प आमदनी मे काम चलाने का श्रेय उनकी धर्मपत्नी को ही था, जिन्होने प्रतिदिन आठ आना मात्र व्यय करके अपने पति और अतिथियो को खिलाने-पिलाने तथा गृहस्थी का अन्य कार्य चलाने का सकल्प ले लिया था। स्वय द्विवेदी जी भी सतोषी थे और अपने बचपन से ही थोडे मे काम चला लेने के अभ्यस्त हो चुके थे। उनकी मितव्ययिता आदर्श थी। इस सम्बन्ध मे द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ मे श्री यज्ञदत्त शुक्ल ने अपना अनुभव लिखा है— "एक बार उन्होने मुझे खासी डाँट बतलायी। द्विवेदी जी को मेरी फिजूलखर्ची का पता लग गया तो उन्होने कहा— "मैं तो अपने तेईस रुपये मासिक मे से चार रुपये प्रति मास बचा लेता हूँ और जनाब आप पौने दो सौ रुपये मे से भी एक पैसा नहीं बचा पाते। आखिर हमे बतलाइये तो कि आप किस चीज मे ये पैसे उडा देते है।" द्विवेदी जी की मान्यता थी—

> इदमेव हि पाण्डित्यामियमेव विदग्धता।
> अयमेव परो धर्मो यदायान्नाधिको व्यय ॥

अर्थात्—आमदनी से खर्च ज्यादा न करने मे ही पण्डिताई, चतुराई और धर्मात्मापन है।

किन्तु, इसका अर्थ यह नही समझना चाहिए कि द्विवेदी जी कृपण थे। प्रत्युत वे इतने उदार हृदय थे कि उन्होने अपनी गाढी कमाई का अधिकाश भाग हिन्दू विश्वविद्यालय को छात्रवृत्तियो के लिए अर्पित कर दिया था। इसके अतिरिक्त अपना समस्त पुस्तकसग्रह और एक हजार रुपया नकद नागरी प्रचारिणी सभा, काशी को दिया। रिश्ते की तीन भाजियो के विवाह और गौने तो किये ही गैरो की दो लडकियाँ ब्याही, गाँव की कई निर्धन लडकियो के विवाह मे सहायता की, कई विधवाओ का पालन किया और उन्हे वृत्तियाँ दी, कूप-निर्माण कराया और कुटुम्ब की अन्तिम स्त्री की मृत्यु हो जाने पर अत्येष्टि-कर्म मे व्यय के साथ दीन-दुखियो मे एक हजार रुपये का वितरण भी किया।

प्राय यह कहा जाता है कि मानव दुर्बलताओ का पुतला होता है। साधारण मनुष्य के सम्बन्ध मे तो यह सत्य है ही, किन्तु कभी-कभी अपने जीवन मे अनेक आदर्शों

को अपनाकर चलने वाले महापुरुष भी दुर्बलता के चक्कर मे आ जाते हैं। द्विवेदी जी के साथ भी ऐसा ही हुआ। कुछ मित्रो के परामर्श के चक्कर मे पडकर विशेष माँग वाली और टके सीधे करने वाली कुछ सरस पुस्तकें तैयार करने का निश्चय उन्होने कर डाला। इस प्रकार की पहली पुस्तक, जो उन्होने लिखी, उसका नाम था 'तरुणोपदेश'। मित्रो को जब उसमे पर्याप्त सरसता न मिली तो उन्होने दूसरी पुस्तक लिखी 'सोहागरात'। मित्रो को वह पुस्तक विशेष सरस प्रतीत हुई और उन्होंने द्विवेदी जी पीठ भी खूब ठोकी। लेखक को लगा कि बिक्री से उनके घर धन की वर्षा होने लगेगी, किन्तु अश्लील पुस्तको के रचयिता होने के कलंक से भी उनकी रक्षा भी पत्नी के द्वारा ही होनी थी। वे पुस्तकें पत्नी से छिपकर लिखी गई थी, किन्तु उनकी दृष्टि चोरी से किये गये काम पर पड़ ही गयी। इस सम्बध मे द्विवेदी जी ने आत्मकथात्मक लेख 'मेरी जीवन-रेखा' मे लिखा है— "देखा ही नही, उलट-पलट कर उसने उन्हे पढा भी। फिर क्या था, उसके शरीर में कराल-काली का आवेश हो आया। उसने मुझ पर वचन-विन्यास-रूपी इतने कड़े कशाघात किये कि मैं तिलमिला उठा। उसने उन दोनो पुस्तको की कापियो को आजन्म कारावास या काले-पानी की सजा दे दी। वे उसके सन्दूक मे बन्द हो गयी।" द्विवेदी जी अगर चाहते तो साधारण पुरुषो के समान लोभ मे अन्धे बने रहकर गृह-कलह को जन्म देते, मार-पीट करते और पुस्तके बलात् लेकर प्रकाशित करा देते। किन्तु उन्होने सती-साध्वी पत्नी की इच्छा एव आदेश का उल्लघन नही किया।

एक बार की बात है कि सहेली के कहने पर पत्नी ने पूर्वजो द्वारा स्थापित महावीर जी (बजरगबली हनूमान) का चबूतरा बनवा दिया और महावीर शब्द की शिलष्टता का उपयोग करते हुए कहा— "तुम्हारा चबूतरा मैंने बनवा दिया।" स्नेही और प्रत्युत्पन्नमति पति ने तत्काल उत्तर दिया— "तुमने हमारा चबूतरा बनवा दिया है, मैं तुम्हारा मन्दिर बनवाऊँगा।" तब कौन जानता था कि हँसी मे कही हुई बात को द्विवेदी जी सचमुच ही चरितार्थ कर देंगे। सयोग की बात कि कुछ ही दिन बाद गगास्नान करती हुई पत्नी अचानक ही जलमग्न हो गई। पत्नी के आकस्मिक वियोग ने उन्हें अवर्णनीय और अपूरणीय दु.ख पहुँचाया। १३ जुलाई, १९१२ को पद्मसिंह शर्मा को उन्होंने लिखा था— 'कार्ड मिला। क्या लिखूँ? यहाँ भी बुरा हाल है। पत्नी मेरी इस ससार से कूच कर गई। मैं चाहता हूँ कि मेरी भी जल्दी बारी आवे।' कालान्तर मे, पत्नी को दिये गये वचनानुसार उन्होने अपने पावन प्रेम का 'स्मृति मन्दिर' बनवाने की ओर ध्यान दिया। उन्होने जयपुर से सरस्वती और लक्ष्मी की मूर्तियाँ मगवायी। साथ ही, लगभग एक सहस्त्र रुपये लगाकर एक दक्ष शिल्पी से पत्नी की सुन्दर मूर्ति बनवायी और उसे अपने प्रेम-मन्दिर मे सरस्वती और लक्ष्मी की मूर्तियो के मध्य स्थापित कर दिया। इस कार्य के कारण उन्हे लोगो की फब्तियो, उपहास, निन्दा और गालियो तक का सामना करना पडा किन्तु सशक्त होने पर भी वे लहरियाँ शिलासदृश पत्नी-प्रेमी को प्रभावित करने मे विफल रही।

बिना घरनी का घर भूत का डेरा बन गया। सतान तो कोई थी ही नही। इधर–उधर के लोग बसने और मौज करने लगे। इस सम्बन्ध मे द्विवेदी जी ने अपने बारह अगस्त, उन्नीस सौ तेंतीस के पत्र मे प० किशोरीदास जी वाजपेयी को लिखा था— 'आपकी कौटुबिक व्यवस्था से मिलता–जुलता ही मेरा हाल है। अपना निज का कोई नही है। दूर–दूर की चिडियाँ जमा हुई हैं। खूब चुगती हैं। पुरस्कारस्वरूप दिन–रात पीडित किए रहती हैं।'

समय कटता रहा। वे जब–तब अस्वस्थ रहने लगे। वर्ष १९३८ के अन्त मे उनकी दशा अधिक शोचनीय हो गयी। जलोदर और सूखी खुजली ने उन्हे विशेषरूप से पीडित किया। अपने २ नवम्बर, १९३८ के पत्र मे उन्होने वाजपेयी जी को लिखा था— 'मैं कोई दो महीने से नरक–यातनाएँ भोग रहा हूँ। पडा रहता हूँ। दूर की चीज भी नही दीख पडती। लिखना–पढना प्राय बन्द है। जरा–सी दलिया और शाक खा लेता था। अब वह कुछ हजम नही होता। तीन पाव के करीब दूध पीकर रहता हूँ—तीन दफे मे। सूखी खुजली अलग तग कर रही है। बहुत दवाएँ की नही जाती।' २० दिसम्बर की आधी रात को बेहोशी चल रही थी, डाक्टर शकरदत्त असमर्थ हो गये थे, प्रात काल चार बजे के बाद आयी हिचकी के साथ कुल्ला–भर पानी गिरा और पौने पाँच बजे, दैनिक जीवन मे जो समय उनके जागरण का था, हिन्दी साहित्य के भीष्म पितामह चिर निंद्रा मे सो गये।

—

Mahavir Prasad Dwivedi and William Wordsworth : A Comparative Study of their views on Poetry

Dr. Shrawan K. Sharma
Dept. of English,
G. K. University, Hardwar

Mahavir Prasad Dwivedi and Wordsworth are two literary giants—one in Hindi literature, and another in English literature. They both revolted against the old literary conventions and established new traditions, Mahavir Prasad Dwivedi against the riti kaal traditions as his collection of essays known as the **Rasagya Ranjan** expresses while Wordsworth against neo-classical traditions as the **Preface to the Lyrical Ballads** contains. In fact, these two works – the **Rasagya Ranjan** and the **Lyrical Ballads**—of Mahavir Prasad Dwivedi and Wordsworth can be called the manifestoes of something new to come.

We now come to the consideration of Dwivedi's views and influence. In many respects, and those the most essential, his influence is the most powerful in shaping the poetic form, though his views are deeply coloured with the views of Wordsworth as he, in Wordsworthian manner revolts against the riti kaal traditions of writing poetry and suggests some new traditions. At first he hits the language of poetry and says that,

> कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज मे समझ ले ।
> कविता लिखने मे व्याकरण के नियमो की अवहेलना न करनी चाहिए ।[1]

He continues that .

गद्य और पद्य की भाषा पृथक-पृथक न होनी चाहिए...
यह निश्चित है किसी समय बोल-चाल की हिन्दी भाषा ब्रजभाषा
की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी ।[2]

Though, in this regard, the first man who had raised his voice in favour of Khari Boli as the language of poetry was Ayodhya Prasad Khatri of Bihar in 1887, but the followers of Braj Bhasha led by Radha Charan Goswami did not let him win the game In this duel Dwivedi's support to Khari Boli proved to be the decisive factor in its eventual acceptance. He threw open the columns of his journal to *all* writers and poets who would compose in Khari Boli. During the twenty years under survey poets were Maithili Sharan Gupta, Shridhar Pathak, Ayodhya Singh Upadhyaya 'Hariaudh' **et. al.** As Dwivedi himself was no mean poet, his neatness of expression and correctness of construction both in poetry and prose had a great influence on them. But his influence was powerful in shaping the poetic genius of Maithili Sharan Gupta who was the first Hindi poet to have patronised modernised Hindi called Khari Boli For the first time Khari Boli became the vehicle of poet's expression in his poems, first published in the **Saraswati.** For this, he has on several occasions expressed his gratitude to Mahavir Prasad Dwivedi, its editor [3] who removed the line of demarcation between the language of poetry and prose.

Earlier than Dwivedi, Wordsworth had already advocated the same view in England He, having assumed the question whether there is no essential difference between the language of prose and metrical compositions' answered 'that there neither is nor can be any essential difference'.[4] He applied these view to his poetry He himself wrote in **the Preface to the Lyrical Ballads** that

> The principal object then which I proposed to myself in these poems was to make the incidents of common life interesting by tracing in them, truly though not ostentatiously, the primary laws of our nature. chiefly as far as the regards the manner in which we associate ideas, in a state of excitement. [5]

Here these similar views of Mahavir Prasad Dwivedi and Wordsworth establish a relationship that denotes their aim of making the language of poetry simple, natural and intelligible. For this they both reject the strict use of metrical compositions and appreciated blank verse. Not only this, they condemn the use of ornamental and figurative language also In poetry according to them, the figures of speech of abstract ideas should rarely occur and should be utterly rejected as an ordinary device to elevate the style, and raise it above prose. No doubt, Wordsworth uses figures of speech in his poetry but such figures of speech does not make any natural or regular part of the language. There is indeed a figure of speech occasionally prompted by passion, and he has made use of them as such. He proposes to himself that

> I have endeavoured utterly to reject them (figure of speech) as a mechanical device of style, or as a family language which writers in metre seem to lay claim to by prescription. I have wished to keep my Reader in the company of flesh and blood, persuaded that by so doing I shall interest him. [6]

Perhaps Wordsworth means to infer that such a mechanical device kills the soul of the poetry. Mahavir Prasad Dwivedi, in the same way, exerts that

> पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनमे जकड जाने से कवियो को अपनी स्वाभाविक उडान मे कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है।[7]

That's why, Dwivediji believes in the blank verse which in any way does not come in the way of paet's flight of imagination In the support of blank verse he argues that when the poetry of Sanskrit, English and Bangla literature can be written in blank verse, there is no adequate reason for Hindi poetry not to be written in blank verse. Actually it is only because we have become habitual of listening metrical compositions and that's why we prefer metrical composition to blank verse In this regard Dwivediji says that listening to a particular type of composition is a psychological process. If we pursue this track of blank verse, there is no denying fact that it shall interest likewise. In the following lines he further strengthens his point of view of discarding the frequent occurrence of figures of speech as a device that

> अनुप्रासो के ढूँढने का प्रयास उठाने मे समर्थक शब्द न मिलने से अर्थांश की हानि हो जाया करती है जिससे कविता की चारुता नष्ट हो जाती है। अनुप्रासो का विचार न करने से कविता लिखने मे सुकरता भी होती है और मनोऽभिलाषित अर्थ को व्यक्त करने मे विशेष कठिनाई भी नही पडती। अतएव पादान्त मे अनुप्रास ही छन्द भाषा मे लिखे जाने की बडी आवश्यकता है।[8]

Besides this, he makes an attack on the subject matter on which the poetry was being written in the riti kaal Like Wordsworth, he suggests nature and man as the subject matter He shows his interest in minor subject matter than grand subjects which has limited range and variety He extends this range by pointing out that

> समस्यापूर्ति विषय को छोड़कर अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार विषयो को चुनकर कवियो को यदि बडी न हो सके तो छोटी-छोटी स्वतत्र कविता करनी चाहिए।[9]

He continues that

> यदि 'मेघनाथ वध' अथवा "यशवन्तराव महाकाव्य" वे नही लिख सकते तो उनको ईश्वर की निस्सीम सृष्टि मे छोटे-से-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुनकर उन्हीं पर छोटी-छोटी कविता करनी चाहिए।[10]

He suggests the subjects like simple village humanity from king to beggar and every phenomenon of nature from ant to elephant, flower to mountain and other such innumerable subjects. In fact, these views of Mahavir Prasad Dwivedi regarding the subject of poetry are greatly influenced by Wordsworth who has already emphasized, in **the Preface to his Lyrical Ballads** the incidents and situation of common life as the subject of poetry. He underlines that

> Low and rustic life was generally chosen because in that situation the essential passions of the heart find a better soil in which they can attain their maturity, are less under restraint, and speak a plainer and more emphatic language; because in that situation our elementary feelings exist in a state of greater simplicity and consequently may be more accurately contemplated and more forcibly communicated; because the manners of rural life germinate from those elementary feelings, and from the necessary character of rural occupations are more easily comprehended; and are more durable; and lastly, because in that situation the passions of men are incorporated with the beautiful and permanent forms of nature. [11]

In fact, the subjects chosen by Wordsworth and Dwivedi for the poetry to be written, are ordinary life, the characters and incidents are such as would be found in every village and its vicinity, where there is a meditative and feeling mind to seek after them, or to notice them, when they present them. To Dwivedi and Wordsworth the "meanest flower that blows can give thoughts that do often lie too deep for tears," and by preserving their soul in austere simplicity they aim at producing a species of poetry which would affect men by its truth rather than its passion, and would affect even the lowliest of men, because it is expressed in the plain and unadorned language of common life. That's why, Dwivedi says that

प्रकृति पर्यालोचन के सिवा कवि को मानव स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए।[12]

He again expresses that

जिस कवि को मनोविकारो और प्रकृति का ज्ञान नही वह कदापि अच्छा कवि नही हो सकता।[13]

This shows that Dwivedi's views which are Wordsworthian every inch rely upon more on sensory observation than rational principles. He says that one can find mental peace not by trying to find a rational solution to his problem but by 'a passiveness' by drinking deeply in the soul of things. Here it would not be inappropriate to acknowledge that Mahavir was always experiencing Wordsworthian thoughts, but he could not reach that height which Wordsworth had touched. In Wordsworth we see such thoughts in a very clear or rather in an intensified way. We can see it in his works, for example, to him nature as the subject of poetry is not only life like but spiritualized In one of his letters he pays tribute to nature and its power to heal the troubled mind :

> I love fields and woods and mountains with almost a visionary fondness—and because I have found benevolence and quietness growing within me as that fondness I has increased, therefore, I should wish to be the means implanting it in others [14]

In fact, he considered man and nature as essentially adopted to each other, and the mind of man as naturally the mirror of the fairest and most interesting qualities of nature. And thus he, prompted by this feeling of pleasure which accompanied him through the whole course of his studies, conversed with general nature with affections akin to those, which through labour and length of man, the man of science had raised up in himself, by conversing with those particular

parts of nature which were the objects of his studies. He acknowledges in the **Tintern Abbey** that he was,

> A lover of the meadows and the woods
> And mountains; and of all that we behold
> Of eye and ear; both what they half create
> And what perceive; well pleased to recognize
> In nature and the language of the sense,
> The anchor of my purest thoughts, the nurse
> The guide, the guardian of my heart, and soul
> Of all my moral being. [15]

There are evidently two powers at work in the mind which relatively to each other are active and passive, but this is not possible without an intermediate faculty which is at once both active and passive. To Dwivedi and Wordsworth this intermediate faculty is imagination. Dwivedi acknowledges it as the essential quality of a poet when says that

> कवि का सबसे बडा गुण नई–नई बातो का सूझना है। उसके लिए कल्पना की बडी जरूरता है। [16]

He explains its role in poetry as an endeavour to the beauty of inanimate impregnated, with clearly concentrated on a living soul by the presence of life i. e. moral teaching. This shows how close two men are in their thinking as they both emphasize the purpose of poetry. Regarding this, Mahavir Prasad Dwivedi says that

> कवि समय-समय पर कल्पित अथवा सत्य आख्यानो द्वारा सामाजिक, नैतिक और धार्मिक विषयो पर शिक्षा दे। [17]

In this regard, it seems that Mahavir Prasad Dwivedi was speaking, consciously, or unconsciously, the language of reformist movements in India but at the same time could not be denied the

influence of Wordsworth who received a lesson from Nature and attributed a separate life and soul to nature: henceforth he felt that there was one soul, the supreme soul or God, present through the universe Now he establishes an essential kinship between the soul of man and the indwelling soul of the universe. He says that if one goes to nature in the right mood, the mood of wise passivity, the serene and blessed mood, and sees into the life of things, one shall realise the truth. This is clearly discernible in the poetry of Dwivedi yug. These poets of this age represent divergent moods. Shridhar Pathak is a lover of simple and quiet aspect of nature, and in this he departs from the traditional approach of Bihari or Padmakar for whom nature only served to stimulate erotic feelings. His first poem in Khari Boli **Ekant-Vasi** appeared in 1887. Ayodhya Singh Upadhyaya 'Hariaudh' is a hyper-sensitive person. The feelings of compassion are reflected in most of his works. His masterpiece, '**Priya-Pravas**' is full of excellent descriptions of nature, the flowers, the blossoming trees, the streams, sun-rise and moon-lit nights. He is equally deft in delineating human character and femine beauty, but without stopping to anything like the riti kaal style. One thing is noteworthy here that these poets like Wordsworth do not always idealize nature but unlike Wordsworth point out also at times the seemy side of the nature. However, they are one in their conclusion that there is no basic difference between human nature and outer nature and the same law govern the two.

Another Wordsworthian important element of poetry which Dwivedi emphasizes is the spontaneous overflow of powerful feelings. Regarding this he expresses his views by imposing two essential conditions; first, the poet's identification with the subject and second, the inappropriate use of figures of speech. He explains these in the following lines

> कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए, ऐसा न होने से अर्थ-सौरस्य नही आ सकता। विलाप वर्णन करने मे कवि के मन मे यह भावना होनी चाहिए कि वह स्वय विलाप कर रहा है और वर्णित दु.ख

> का स्वय अनुभव कर रहा है। प्राकृतिक वर्णन करने के समय उसके अन्त:करण में यह दृढ सस्कार होना चाहिए कि वर्ण्यमान नदी, पर्वत तथा वन के सम्मुख वह स्वय उपस्थित होकर उसकी शोभा देख रहा है। कवि की आत्मा का वर्ण्य विषयो से जब इस प्रकार का निकट सबध हो जाता है तभी उसका किया हुआ वर्णन यथार्थ होता है और तभी उसकी कविता को पढकर पढ़ने वालो के हृदय पर पद्धत भावनाएँ उत्पन्न होती हैं।[18]

He extends his view by saying that

> कविता करने मे हमारी समझ मे अलकारो को बलात लाने का प्रयत्न न करना चाहिए······बलात किसी अर्थ के लाने की चेष्टा करने की अपेक्षा प्रकृत भाव से जो कुछ आ जाए उसे ही पद्यबद्ध कर देना अधिक सरस और आह्लादकारक होता है।[19]

In this regard Wordsworth explains that

> Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings; it takes its origin from emotion recollected in tranquillity; the emotion is contemplated till by species of reaction, the tranquillity gradually disappears, and an emotion, similar to that which was before the subject of contemplation, is gradually produced, and does itself actually exist in the mind[20]

Here the 'identification with the subject' used by Mahavir Prasad Dwivedi and the 'emotions recollected in tranquillity' used by Wordsworth are very important to establish a relationship between them. No doubt, the terminologies adopted by them for a while, draw a line of demarcation but agree to give the same result. In fact their account is a psychological one which describes the genesis of poetry in the poet s mind Thus, the above points, simplicity of language, blank verse, ordinary subjects, imagination, moral teaching and spontaneity – discussed on the basis of the **Rasagya Ranjan** and the **Preface to the Lyrical Ballads** are the cementing bond between the relationship of Dwivedi and Wordsworth which may be called the influence of latter on the former.

NOTES AND REFERENCES

1. Mahavir Prasad Dwivedi; **Rasgya Ranjan**; (Sahitya Ratna Bhandar, Agra, 19 3), p. 5
(Hereafter referred to as **The Rasgya Ranjan**)

2 **Ibid**, pp. 6-7

3 R. L Handa; **History of Hindi Language And Literature**; (Banarasi Vidya Bhawan, Bombay, 1978), p. 389.

4 Wordsworth and Coleridge, **Lyrical Ballads**, Ed. by R. L. Brett and A. R. Jones; (London, 1968), p. 253
(Hereafter referred to as **The Lyrical Ballads**)

5 **Ibid.**, pp. 244-45.

6 **Ibid.**, pp 251-52.

7. **The Rasagya Ranjan**, p 38

8 **Ibid.**, p. 4

9. **Ibid**, p 13

10. **Ibid**, p. 11

11 **The Lyrical Ballads**, p 245

12. **The Rasagya Ranjan**; p. 42

13. **Idem**

14 **The Letters of William aud Dorothy Wordsworth**, (ed. E. de Selincourt, 2 volumes, Oxford, 1939), p. 136.

15 **Wordsworth Poetical Works**, ed Thomas Hutchinson, (New York, 1981). pp. 164-65.

16 **The Rasagya Ranjan**; p. 41

17 **Ibid**; p 18

18. **Ibid.**, p. 8

19 **Ibid**, p. 9

20 **The Lyrical Ballads**; p. 266

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का ब्रजभाषा-कृतित्व

—**प्रोफेसर लक्ष्मीनारायण दुबे**, डी॰ लिट्॰
हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म तथा लेखनकाल समारम्भ—दोनो का ही प्रत्यक्ष एवम् घनिष्ठ सम्बन्ध भारतेन्दु-युग (१८५०-१९००) के साथ है जिसकी सर्वमान्यताप्राप्त एव स्वीकृत भाषा बृजभाषा थी। आचार्य द्विवेदी ने अपना समस्त प्रारम्भिक काव्य-कृतित्व ब्रजभाषा मे ही प्रस्तुत किया। यद्यपि गद्य मे उनका झुकाव खड़ी बोली की ओर उन्मुख हो गया था परन्तु पद्य तो उन्होने ब्रजभाषा मे ही लिखा।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने १८८५ से अपनी आयु के इक्कीसवे वर्ष से ब्रजभाषा मे कविताएँ लिखना शुरु कर दिया था। वे निरतर-सतत-अबाधित रूप मे पन्द्रह वर्ष तक ब्रजभाषा मे ही काव्य-सृजन करते रहे। उन्नीसवी शताब्दी के अत और बीसवी शताब्दी के शुरु होने के सक्रमण काल मे वे ब्रजभाषा से खड़ी बोली मे अपनी रचनाधर्मिता को प्रतिबद्ध करने लगे और बाद मे तो वे खड़ी बोली के कृती-आचार्य के रूप मे समादृत हुए।

इन पन्द्रह वर्षों मे द्विवेदीजी ने ब्रजभाषा-कृतित्व मे अनुवाद तथा मौलिक स्फुट कविताओ को समाविष्ट किया। उनकी ब्रजभाषा की कविताएँ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओ यथा 'हिन्दोस्थान', 'हिन्दी बगवासी', 'नागरी प्रचारिणि पत्रिका', 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार,' 'राजस्थान समाचार' 'भारत जीवन,' 'सुदर्शन' आदि मे प्रकाशित हुई। उन्होने अपने कृतित्व का समारम्भ अनुवाद तथा रूपान्तर से किया था और विशेषकर सस्कृत ग्र थो का सफल-सार्थक-सटीक एव भावपूर्ण उल्था ब्रजभाषा के माध्यम से किया। वे सस्कृत मे भी कतिपय कविताएँ लिखा करते थे। आचार्य द्विवेदी का प्रथम काव्यसकलन 'काव्य-मजूषा' (प्रथम भाग) जयपुर से १९०३ मे प्रकाशित हुआ था जिनमे उनकी मौलिक ब्रजभाषा रचनाएँ उपलब्ध हैं।

द्विवेदीजी ने १८८५ मे होशगाबाद मे पुष्पदंत के श्रीमहिम्नस्तोत्र का रूपातर प्रस्तुत किया जो कि लगभग छ वर्ष उपरान्त इण्डियन मिडलैण्ड यत्रालय झासी से १८९१ मे प्रकाशित हुआ। द्विवेदीजी की प्रमुख विशेषता यह रही कि

उन्होंने ब्रजभाषा मे संस्कृत वृतो की ही रखने का भरसक प्रयास किया। इक्कीस वर्ष की आयु के युवक का ब्रजभाषा-प्रेम तथा अनुवाद दृष्टव्य है :

करौं मैं विनय नाथ कैसे तिहारी।
लजौ हौं हिये, माँहि हा हा पुकारी।
लहुँ अन्त नाही कथौं वेद जाको।
सु मैं मन्द बुद्धि कहौं काह ताको।

द्विवेदीजी ब्रजभाषा मे समाहार-समापन करते हैं–

सुरसरि शेखर गिरीश हर चन्द्र मौलिक जोर।
भाषा करौ महिम्न की यथा बुद्धि लघु मोर॥

द्विवेदीजी के ब्रजभाषा-कृतित्व पर स्पष्टतया रीतिकाल की छाप और भारतेन्दु–युग की मानसिकता दिखाई देती है।

द्विवेदीजी की प्रथम प्रकशित पुस्तक 'विनय विनोद' है जिसका प्रकाशन १८८९ मे हुआ और यह भर्तृहरि के वैराग्यशतक का पद्यानुवाद है। इसमे दोहा छद प्रयुक्त हैं। अनुवादक हिन्दी पाठको को सस्कृतकाव्य का आस्वादन कराना चाहता है और सस्कृत के सुन्दर छदो को ब्रजभाषा मे लाना चाहता है। ब्रजभाषा मे रचे विनय-विनोद की प्रारम्भिक पक्तियाँ आस्वादन लेने योग्य हैं

विश्वाधार विशुद्ध विभु विश्वम्भर वरगीत।
विमल विमोह विनाश कर विगति विकार विनीत।
निराकार-नर-केशरी केशरी केशव करुणाकन्द।
नमो निरजन बक शुचि सुखन सच्चिदानद॥

समापन मे विनय की स्थिति है

दीनबधु करुणायतन जगपति दीनानाथ।
बूडत भवनिधि मध्य लखि गहिये मेरो हाथ॥
शरणागत मागह प्रभो हे अनाथ के नाथ।
युगल चरण अरविन्द मह राखन दीजै माथ॥

१८९० मे झासी से द्विवेदीजी का जयदेव के 'गीत गोविन्द' का सस्कृत वृत्तों मे सक्षिप्त भावानुवाद प्रकाशित हुआ जिसमे सौ गणात्मक छंद हैं। इसमे यदि वाग्-विलास, पद्य रचना की सुघराई, यमक की मनोहरताई और लालित्य की अधिकाई है तो इसका सम्पूर्ण श्रेय ब्रजभाषा के माधुर्य को है। ग्रन्थ के प्रारम्भ की स्तुति है :

मेरी बुद्धि मलीन दीन जड को है शुद्धि कै दीजिए।
ध्यावौ नाथ नवाय माथ धरणी एती कृपा कीजिए।

वर्णौ छ द निबध वृत्त कविता सारीज सिंवार की ।
या माही तिन माहि पूर्ण परि है दो वानि के मार की ।

'विहार वाटिका' मे शार्दूल विक्रीडित, द्रुत विलम्बित, शिखारिणी, भुजग प्रयात, मालिनी, मन्दाक्रांता, हरिगीतिका, जयततिलका, नराच, चामर, इन्द्रवज्रा आदि छ दो का प्रयोग तथा भावाताहित्व व्रज है । राधा के वियोग मे कृष्ण व्याकुल हैं :

राधे नागरि कै बिना साधै सुख सब श्याम ।
निरस जानि विह्वल विकल तजी सकल व्रजवास ।।
हिय थकै मोह न ताहि हेर कै ।
दशौ दिशा प्यारिह टेरि टेरि कै ।।

१८९० मे उनका भर्तृहरि के 'शृगार-शतक' का 'स्नेहमाला' नाम से व्रजभाषा मे अनुवाद प्रकाशित हुआ । नायिका का चित्र बिहारी की याद दिलाता है

चन्द्रानन सरसिज नयन स्वर्णमयी सब देह ।
कच कुचित लखि होत हैं बलि बलि अलिगण खेह ।
चक्रवाक कुच केहरी कटि नितम्ब विस्थूल ।
वचन सरस मृदु अपर सब तिय स्वभाव के मूल ।।

द्विवेदीजी ने व्रजभाषा मे १८९१ मे कालिदासरचित 'ऋतु तरगिणी' का अनुवाद प्रस्तुत किया । आचार्य द्विवेदी ने गद्य तथा पद्य मे महाकवि कालिदास पर सर्वाधिक लिखा । भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग मे किसी ने भी कालिदास पर इतना नही लिखा । उन्होने पण्डितराज जगन्नाथ की 'गगा लहरी' का १८९१ मे सवैया छद मे अनुवाद किया । अनुवाद सुन्दर बन पडा—

मनतैं सुमिरै जिहि एकहि बार मिलै सुविचार सुबुद्धि की खानो ।
जिहि जाप करैं भवताप औ पाप की नैकु रहैं नहि एकु कहानी ।।
यह सौ मन भावनी शब्द अनुपम गगा कहै जिहि विश्व की बानी ।
प्रिय प्रानन प्रात नितात समै मम आनन मे विलसै महारानी ।।

द्विवेदी जी ने १८९६ मे पण्डितराज जगन्नाथ के यमुनास्तोत्र का भावानुवाद 'अमृत लहरी' के शीर्षक से किया था ।

मौलिक काव्य-रचयिता के रूप मे द्विवेदीजी की प्रथम पुस्तक 'देवी-स्तुति-शतक' के रूप मे १८९२ में कानपुर से प्रकाशित हुई । उनकी ११ मार्च, १८९७ मे 'भारत दुर्भिक्ष' कविता 'हिन्दोस्थान' में मुद्रित हुई—

शक्ति नहीं जिनकै बोलन की तकि-तकि मुख फैलावै,
सींक समान पैर लोन्हैं बहु रोवत गोदर खावै ॥
गुठली खानहेत बैरन की ढूढत सोउ न पावै,
पग-पग चलैं गिरैं पग पग पर आरत नाद सुनावैं ॥

मार्च, १६०० मे 'सुदर्शन' मे उनकी 'अयोध्या का विलाप' कविता निकली—

जाकी समस्त सुनि सम्पत्ति की कहानी ।
नीचौ नवाय सिर देवपुरी लजानी ।
ताकौ अरै निपट निष्ठुर काल ऐसी,
तूने करी शठ ! दशा अति ही अनैसी ।

आचार्य द्विवेदीजी की ब्रजभाषाविषयक कतिपय मौलिक कविताएँ 'कविता-कलाप', 'सुमन' तथा 'द्विवेदी काव्यमाला' मे सकलित तथा प्रकाशित हैं ।

आचार्य द्विवेदी के प्रारम्भिक लेखन मे पण्डिताऊपन का अ श है । उनके काव्यानुवाद प्राय मूल का सा आनन्द इसलिए देते हैं क्योकि उनका ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार था और सस्कृत के पाण्डित्य से वे परिप्लावित थे । द्विवेदीजी ने ब्रजभाषा मे अनुवाद करके, ब्रजभाषा-वाङ्मय की श्रीवृद्धि की और उसकी भाषाई-अस्मिता तथा अभिव्यक्ति-शिल्प को समृद्ध आयाम प्रदान किये ।

इन पन्द्रह वर्षों का उनका साहित्य ब्रजभाषा से खडी बोली की यात्रा का इतिवृत्त है । द्विवेदी जी पर श्रीधर पाठक का भी प्रभाव पडा । एक ओर द्विवेदी जी की प्रथम खडी बोली कविता 'बलीवर्द' १६ अक्टूबर, १६०० मे 'श्रीवेंकटेश्वर समाचार' मे प्रकाशित हुई परन्तु दूसरी ओर उनका ब्रजभाषा-प्रेम तथा ब्रजकाव्य-आसक्ति दूर नही हुई और १६ नवम्बर, १६०० को 'हिन्दी बगवासी' मे उनकी 'मासाहारी का हण्टर' ब्रजभाषा मे प्रकाशित हुई—

धिक्कार तोहि, नर-जन्म वृथा हि पायो,
आहार मास करि मानुषता नसायो ।
तो सौं भले पशु, असभ्य मनुष्य आदि,
हा हत! हत!! तव जीवन-आलवादि ॥

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के ब्रजभाषा-कृतित्व के कारण ही वे वाङ्मय मे प्रौढता तथा साधुता ला सके और आगे चलकर काव्य-शिल्प तथा काव्य-भाषा के परिमार्जन के प्रति आग्रही रहे ।

—

हिन्दी नवजागरण और महामति महावीरप्रसाद द्विवेदी

डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय, डी० लिट०
पूर्व आचार्य एव अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

"नवजागरण" से अर्थ लिया जाता है किसी व्यक्ति या समुदाय की जडता के प्रति स्वचेतना, यह आत्म जागरूकता कि मैं (हम) अधोगति (पतन), पराधीनता और प्रमाद की दशा मे हूँ और यह जो निम्नोन्मुखी गति या चेतना की सुषुप्तावस्था है, वह दूर होनी चाहिए। अजागरण या जड़ता, इस प्रकार आत्म-निषेध या निष्क्रियता तथा आत्मसंतुष्टि (स्मगनैस) की दशा होती है और ऐसी नकारात्मक अवस्था, किसी व्यक्ति और समूह, समुदाय या राष्ट्र के जीवन मे आती है, कभी किंचित् काल के लिए, कभी दीर्घकालावधि के लिए।

दार्शनिक-विचारक-कवि-लेखक-समाजसुधारक-क्रांतिकारी-मनीषी और मनस्वी व्यक्ति इस जनजडता को दूर करने, जातीय या राष्ट्रीय गौरव जगाने, समुदायविशेष की वैयक्तिक-सामूहिक सवेदना को व्यापक बनाने, उसे उकसाने, उत्तेजित करने, शिव-अशिव या बुराई-भलाई का बोध उपजाने, स्वावलम्बन, अस्मिता-गरिमा पनपाने और समूचे समूह या राष्ट्र या राष्ट्रो को महान कार्यों-पराक्रमो और परोपकारो के लिए खडा कर देने के वैचारिक अभियान को नवजागरण या पुनर्जागरण (रनेसाँ) कहा जाता है।

पुनर्जागरण के जातीय-राष्ट्रीय-वैश्विक अनेक रूप हो सकते हैं। पृथक रूप मे, योरोप मे पुनर्जागरण १४वी शताब्दी से माना जाता है, उसके पूर्व वहाँ "अधकाल" था (रोमन साम्राज्य के बाद से १४वी शती तक 'डार्क एज' कहा जाता है क्योकि छठी-सातवी शताब्दी से १४वी शताब्दी तक पश्चिमी योरोप मे मानवमस्तिष्क पर अध-विश्वास का राज था। 'आत्मचेतना' सेल्फ अवेयरनैस—कि मैं (हम) हूँ (हैं), मेरी (हमारी) स्वतत्र सत्ता है और मैं स्वतन्त्ररूपेण सोच सकता हूँ, निर्णय ले सकता हूँ। इसके विपरीत, तब, पश्चिमी योरोप मे ईसाई मत का लोगो की बुद्धि पर इतना प्रभाव था कि बाईबिल मे जो लिखा है, उसे अखण्ड सत्य माना जाता था और इसी अध-विश्वास की मनोदशा मे, धर्म बनाम विज्ञान की टकराहट मे गैलेलियो तथा अन्य वैज्ञानिको को चर्च के दमन का शिकार होना पडा था।

अतएव पुनर्जागरण युग का मूल लक्षण यह था कि सत्य के निकष का आधार मनुष्य का विवेक है, धार्मिक पवित्र ग्रन्थो के वक्तव्य को भी मानव विवेक के आधार पर ही मान्य या अमान्य किया जा सकता है।

भारतवर्ष मे यह विवेकशील (रैशनलिस्ट) और वैज्ञानिक दृष्टि, यहाँ की दर्शन-परम्परा मे प्राचीनकाल से ही मिलती है। आत्मा, परमात्मा और वर्ण–जाति को मानने वाली धर्माचारप्रधान (यज्ञ आदि) वैदिक परम्परा मे औपनिषदिक-चिन्तन मे परम सत्ता को मानकर भी, विवेकवाद के परे जा कर भी, धर्म क्रियाओ के अधानुगमन का विरोध किया गया था और कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड की श्रेष्ठता स्थापित की गई थी। प्रत्येक ऋषि की मति और मान्यता के स्वातन्त्र्य का आदर था और आरण्यको ने सर्वजीव-समभाव की स्थापना, अद्वैत सत्ता के एकत्व के आधार पर की थी।

अद्वैत वेदान्त ने सिद्धान्तत समदर्शिता का प्रचार किया था किन्तु व्यवहार मे वर्णवादी प्राचीन समाज, यज्ञभाग मे हिंसादि का प्रयोग करता रहा। अत. इस देश मे जैन, बौद्ध, आजीवक आदि विवेकवादियो ने पूरी वैदिक परम्परा या ब्राह्मणवाद को चुनौती दी थी और इनके जो सघ या समाज बने, उनमे वर्ण या जाति का भेदभाव नही था। यहाँ लोकायतो और पकुद काच्चायन जैसे दार्शनिको ने ईश्वरवाद, यज्ञवाद और वर्णवाद को असत्य और पाखण्ड घोषित किया और "स्वभाववाद" का प्रवर्त्तन किया। माधवाचार्य के "सर्वदर्शन सग्रह" मे 'स्वभाववाद' का परिचय दिया गया है। जहाँ ईश्वर-आत्मावाद, सृष्टि के मूल मे किसी अलक्षित सत्ता को नैमित्तिक-उपादान कारण मानता है, वहाँ स्वभाववाद प्रकृति या सृष्टि की सत्ता को स्वभावत मानता है, यानी वह दृष्टि आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि के समान थी जिसमे प्रकृति को अनादि-अनन्त और प्राकृतिक प्रक्रिया का परिणाम माना जाता है, किसी दैवी सत्ता की कल्पना नही की जाती क्योकि प्रकृति की व्याख्या, प्रकृति की प्रक्रियाओ मे निहित है, किसी ब्रह्म, ईश्वर या बाह्य शक्ति मे नही। अतएव स्वभाववाद के अनुसार ब्रह्म-ईश्वर-आत्मा-स्वर्गनरक-आदि की सत्ता काल्पनिक या पौराणिक (मिथकीय) है, वास्तविक नही।

"भारत मे नास्तिकवाद"[1] और लोकायत[2] जैसी पुस्तको मे भारतीय विवेकवाद का पूरा विवरण दिया गया है। इस विवेकवाद मे सांख्य-न्याय और वैशेषिक दर्शन भी आ जाते हैं क्योकि सांख्य मे प्रकृति और चेतना (पुरुष) को ही माना जाता है और वैशेषिक-दर्शन मे सृष्टि की व्याख्या मूल द्रव्य/कण या परमाणु द्वारा की गई है और तर्कशास्त्र (न्याय) मे "ईश्वर" को केवल तार्किक आवश्यकता (लाजीकल-नैसेसिटी) के रूप मे माना गया है, विश्वास के रूप मे नही।

१. "इंडियन एथीसिज्म"-देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, पी०पी० एच०, नई दिल्ली १९८०ई०
२. लोकायत (अंग्रेजी मे) देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, पी पी एच, नई दिल्ली।

इसका अर्थ यह है कि भारतवर्ष में नवजागरण के प्रवाह आते-जाते रहे हैं। रूढ़िवाद और तज्जन्य क्रूरता बढने पर यहाँ विवेकवाद उभरता रहा है। नवजागरण के इस धाराक्रम को, मोटे रूप मे इस प्रकार देख सकते हैं—

१. प्रथम जागरण—कर्मकाण्ड के अतिवाद या रूढ़िके विरुद्ध आरण्यक तत्त्ववादियो का औपनिषदिक चिन्तन।

२ सपूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड—वर्णवाद और ब्रह्म-आत्मा-देवतावाद के विरुद्ध योगियो का विवेकवाद (स्यात्वाद/अनेकान्तवाद/प्रतीत्य समुत्पादवाद आदि) तथा नास्तिको का स्वभाववाद। निगम-आगमो की इस टक्कर के बाद इनका समन्वय होता रहा, सघर्ष भी।

३ भक्ति-आन्दोलन—इसमे स्मार्त्तपरम्परा मे निगमागमो की सगति तथा गैर स्मार्त्त या शास्त्र निरपेक्ष योगियो-सन्तो और भक्तो मे आगम परम्परा का प्रभाव अधिक रहा।

४. आधुनिक-पुनर्जागरण।

सोवियत रूस की मास्को विश्वविद्यालय की भारतीय भाषा विभाग की आचार्य मज्जानोवा यह मानती है कि भक्तिकाल, भारतीय पुनर्जागरण का काल था। डा० रामविलास शर्मा भी यही मानते हैं, अन्य अनेक विचारक भी। मैं भी मानता हूँ किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से देखे तो मध्यकालीन भारतीय पुनर्जागरण मे "विवेकवाद" दुर्बल रहा। यहाँ अधिदार्शनिकता, परोक्षता मे विश्वास और उसके प्रति भक्ति या प्रेम प्रधान रहा। दूसरे, यहाँ विज्ञान और तकनीक (टैक्नोलोजी) का विकास नही हुआ, न धर्म-निरपेक्ष शास्त्रो का, जैसा कि प्राचीनकाल मे हुआ था। अत मध्यकाल मे कोई आर्यभट्ट, कोई कोटिल्य (अर्थशास्त्र) और कोई नागार्जुन (रसायनशास्त्री) नहीं जन्मा, सन्तो और भक्तों का ही बाहुल्य रहा।

आधुनिक पुनर्जागरण, हिन्दी नवजागरण जिसका एक भाग है, की विशेषता यह है कि उसमें मध्यकालीन अ धविश्वास के स्थान पर धर्म को विवेक के साथ स्वीकार करने की प्रवृत्ति है। यद्यपि यह सच है कि आत्यन्तिक विश्वासो को सीधी चुनौती नहीं दी जा सकी तथापि आधुनिक पुनर्जागरण मे धर्म के प्रति एक सोचता हुआ मस्तिष्क है जो अ धविश्वासों के विरुद्ध लडता है। स्वामी दयानन्द इसके सबसे प्रबल प्रमाण हैं। उन्होंने पूर्ण निर्द्वन्द्व, निर्भय और साहसी बौद्धिक के रूप मे पौराणिकता (मिथ) को चुनौती दी और वैदिक धर्म के पक्ष मे अन्य सारे धर्मों के अ ध-विश्वासो पर प्रचण्ड प्रहार किया। स्वामी जी वेद और वैदिक आस्थाओ को निस्सग समाज वैज्ञानिक के

सदृश तो देख नही सकते थे तथापि उन्होने तथा उनके आर्य समाज ने सनातन धर्म सहित, सभी धर्मों मे सन्निविष्ट अ ध-विश्वासो को ललकारा और मुक्त शास्त्रार्थो द्वारा समाज की अ धश्रद्धाजन्य जडता को तोडा, बुद्धिवाद को जगाया और वर्ण-जातिवाद पर प्रहार किया।

यह स्मरणीय है कि आधुनिक नवजागरण तथा हिन्दी-नवजागरण १८५७ ई० की राजक्रान्ति या विद्रोह के बाद प्रबल हुआ । क्रान्ति की असफलता के बाद, भारतीय समाज और साहित्य मे दर्शन और सुधार-आन्दोलनो मे, दो प्रवृत्तियाँ दिखाई पडती हैं। प्रथम, सकटकाल मे साम्राज्यवाद के जुए मे जुती पराधीन जनता के मनोबलवर्धन हेतु इतिहास मे अपने मूल (रूट्स) की खोज, अतीत की उपलब्धियो का गौरवानुसधान तथा अपने समाज की बुराइयो-विकृतियो के विरुद्ध असतोष तथा सुधार का विराट आयोजन एवम् आन्दोलन।

बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और मद्रास के अ चलो मे सर्वप्रथम सुधारचेतना सक्रिय हुई, विशेषकर बगाल मे राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ-केशवचन्द्र सेन, विद्यासागर आदि महानुभावो के वैचारिक अभियान से भारतवर्ष मे आत्मचेतना का संचार हुआ। हिंदी प्रदेश मे स्वामी दयानन्द, श्रद्धाराम फिल्लौरी, भारतेन्दु और उनके बाद महामति महावीरप्रसाद द्विवेदी ने "हिन्दी जाति" या हिन्दी प्रदेश के समाज की मुख्य मूढताओ पर प्रहार किया, और आधुनिक बौद्धिक-सुधारवादी-सामाजिक -चैतन्य की अग्नि का प्रज्ज्वलन किया।

ध्यातव्य यह है कि भारतेन्दु युग मे हिन्दी मे परम्परा के रूढिगत रूपो का विरोध प्रबल नही हो सका। भारतेन्दु एक ओर "चन्द्रावली" लिखते हैं, दूसरी ओर "नीलदेवी", 'भारत दुर्दशा, 'अ धेर- नगरी" और "विषस्य विषमौषधम्"। रीतिकालीन काव्य रूढियो का वह तिरस्कार नही करते अपितु वह देव-बिहारी, पद्माकर आदि के रचनात्मकता मे होड़ लगाते हैं। भारतेन्दु ने आधुनिक गद्य-विधाओ की नीव डाली, किन्तु कविता मे वह गतानुगतिक रहे जबकि महामति महावीरप्रसाद द्विवेदी अधिक स्वतन्त्रचेता थे। उन्होंने नायिकाभेद के स्थान पर दृढता से साहित्य के केन्द्र मे सामाजिक चेतना को प्रतिष्ठित कर दिया और सामाजिक पुनर्जागरण, उपदेश, प्रेरणा, ऐतिहासिक इतिवृत्तो के वर्णन द्वारा गौरवगायन और महापुरुषो के चरित्रो से युवाशक्ति के उत्तेजन को कविता तथा लेखन का मुख्य उद्देश्य घोषित किया। प्राय सभी कवियो ने महामति महावीर के इस उन्नयनशील मार्ग को अपना लिया।

श्रीकृष्ण ने 'गीता' मे कहा है कि जब-जब पतन होता है, हताशा फैलती है, धर्म या मानवमूल्यो की दुर्गति होती है, तब-तब मैं अवतार लेता हूँ। वस्तुत यह

मात्र धर्मोक्ति नही, इतिहासोक्ति है। इसका प्रयोजन यही है कि समाज की अधोगति में कुछ महापुरुष नवजागरणकारी भूमिका अदा करते हैं। इसी प्रक्रिया को, इस अनिवार्य इतिहासक्रम को गीता मे कहा गया है। श्रीकृष्ण के शब्दो मे महामति महावीरप्रसाद द्विवेदी, कम से कम, हिन्दी साहित्य मे अधिकतर रचनाकारो को अपनी सामयिक भव्य भावना तथा चेतना से चलाते प्रतीत होते हैं। इन्ही प्रेरणा-पुरुषो मे, कृतज्ञ व्यक्ति विश्व छवि देखते हैं। "भ्रामयन् सर्वभूतानाम् यत्रारूढानि मायया।"-यहाँ मायया के स्थान पर "सरस्वती शक्ति" रख सकते हैं किन्तु यह सत्य है कि महामति महावीर की "सरस्वती" ने महावीर की गदा की तरह, जातीय जाड्य, नायिक भेदी नखशिख वर्णनवाली शृगारिकता आदि पर प्रचण्ड प्रहार किया और शुद्ध साहित्यिकता, कला और कौशल की परवाह न कर लेखन को कथ्य प्रधान बनाया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी का महामतित्व इससे सिद्ध होता है कि उन्होने साहित्यिक चेतना को सुधारात्मक बनाने के सिवा सामान्य बौद्धिकता और बुद्धता के लिए साहित्य के क्षेत्र मे विविध ज्ञान-शाखाओ के प्रति उन्मुखता उत्पन्न की। सामाजिक-ऐतिहासिक टिप्पणियो-निबन्धो के सिवा, उन्होने अग्रेजो साम्राज्यवाद के शोषण को अनावृत्त करने और इस प्रकार अग्रेजो को भारतदुर्दशा का मूल कारण प्रमाणित करने के लिए, अर्थशास्त्र लिखा जो "सम्पत्ति-शास्त्र" के नाम से छपा। द्विवेदी जी की "सरस्वती" मे डार्विन के विकासवाद पर कई निबन्ध प्रकाशित कराए गए थे। स्वय द्विवेदी जी ने एक ओर तो "कुमारसभव" और 'रघुवश' के अनुवाद किए, हिन्दी मे महाभारत लिखा तो दूसरी ओर 'बेकनविचार-रत्नावली" मे बेकन के आधुनिक चिन्तन से परिचय कराया। नए युग का प्रवर्त्तन वस्तुत इसी वैचारिक जागरण से हुआ, अन्यथा साहित्य की बौद्धिक पृष्ठभूमि दुर्बल रहती। साहित्य, स्वाधीनता सग्राम तथा सुधारो की तीव्रता से नही जुड पाता।

द्विवेदी जी का महामतित्व इसी ज्ञानकाण्ड से सिद्ध होता है। डा० रामविलास शर्मा ने यह सही लिखा है कि द्विवेदी युग, साहित्य का ज्ञानकाण्ड था। किन्तु द्विवेदी जी के इस बौद्धिक नेतृत्व की उपेक्षा कर उनकी भूमिका को मात्र खडी बोली हिन्दी भाषा के परिष्कार तक ही सीमित कर दिया जाता है। यकीनन उन्होने और उस समय केवल उन्होने ही भाषा सस्कारकर्त्ता का कार्य किया पर उन्होने हिन्दी जाति के मस्तिष्क क्षेत्र का भी नया सस्कार किया। इस बौद्धिक जुताई-गुडाई के बिना, हिन्दी मे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रति जिज्ञासा बढ नही सकती थी, और ज्ञान-विज्ञान ही नवजागरण का मुख्य आधार होता है। अतीत-गौरव से मात्र मनोबल बढता है किन्तु बुद्धि-विज्ञान-बल के बिना, मनुष्य के सृजन-चिंतन मे मात्र भावुकता रहेगी, अधविश्वास रहेगा और वह मात्र परम्परा या रूढि को दुहराता रहेगा।

महामति महावीरप्रसाद द्विवेदी के महामतित्व या बौद्धिकता के कारण ही उनमे इतनी रूक्षता, अनुशासनप्रियता और नीरसता-सी है, उनमे तरलता के स्थान पर एक ज्ञानी की दृढता है। उनके रोम-रोम मे देशभक्ति थी किन्तु उसके लिए उन्होंने तात्कालिकता के स्थान पर भारतीयो को ज्ञानी बनाना चाहा ताकि उनके सिरो मे जो अज्ञान-अधकार या विचारशून्यता भरी है, वह आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक से दूर हो जाए। अत यह आकस्मिक नही है कि उस युग के प्रवर्तक आचार्य द्विवेदी विकासवाद और बेकन पर लिखते-लिखवाते हैं तो उन्ही की चेतना के ध्वजवाहक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हेकल के 'रिडिल आफ यूनीवर्स' के आधार पर 'विश्वप्रपच' लिखते हैं। हिन्दी-नवजागरण की यह गौरवमयी झाँकी है।

महामति महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सम्पत्तिशास्त्र' मे विदेशी साम्राज्य की भयकर लूटखसोट का वर्णन किया है। कई स्थानो पर इसे पढकर हमारा ध्यान आज की स्थिति की ओर भी जाता है।

द्विवेदी जी ने लिखा है कि प्राचीन राजा जनता से भूमि का कर लेते थे, लगान नही, और भूमि का स्वामी राजा नही, प्रजा थी यानी किसान थे।[1] अब आज की स्थिति देखें। जमीदारीप्रथा, किसानो के शोषण के लिए अगरेजो ने चलाई थी। उसका उन्मूलन स्वाधीनता के बाद वर्तमान शासकवर्ग ने किया परन्तु आधे-अधूरे ढग से। फलत बिहार और बगाल मे तथा अन्यत्र भी उत्तर प्रदेश, राजस्थान, म० प्रदेश आदि मे भी, भूमिहीन किसान (शिकमी) भूमिधरो की जमीन अधबटाई/तिहाई पर जोतते हैं और बडे भूमिधर मौज करते है या राजनैतिक व्यवसाय करते हैं। भूमि पर "लगान" लग रहा है, बढ रहा है, कर नही यानी अग्रेजी परम्परा कायम है। अतएव द्विवेदी जी का सम्पत्तिशास्त्र अब भी प्रासगिक है, बस अगरेजो की जगह, स्वदेशी स्वामी आ गए है जो देश को लूट रहे है और भूमिहीन कृषक, श्रमिक, पूर्ववत् शोषित हैं। नवधनाढ्य लोग, गरीब किसानो की जमीनें खरीद रहे है।

'सम्पत्तिशास्त्र' मे द्विवेदी जी ने, भारतीयो पर ऋण की समस्या उठाई है। लिखा है कि शासको ने साढे चार अरब का कर्ज लिया है जिसका ब्याज १४ करोड बैठता है। कर्ज लेकर विकास करने और भ्रष्टाचार द्वारा घर भरने की प्रवृत्ति अगरेजो के जमाने मे शुरु हुई थी जो अब अग्रेजी शिक्षा और उनकी रीतिनीति से शिक्षित और उन्ही के नमूने (माडल) पर भारत मे शासन का ढाँचा खडा करने वाले वर्तमान शासकवर्ग ने पिछले ४७ वर्षों मे लगभग एक लाख करोड रपये के कर्ज का भार देश पर लाद दिया है, जिसका ब्याज सकल राष्ट्रीय आय का एक-तिहाई होता है और यह जो विराट

१. "महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण", डा० रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९७७ ई०, पृ० २२

विनिवेश हुआ है उसमें से भारी हिस्सा भ्रष्टाचार द्वारा नेता-अधिकारी-ठेकेदार-दलाल-तस्कर-व्यापारी श्रेणी के घर पहुँचा है और जो निर्माणकार्य होते हैं उनमें इतनी मिलावट होती है कि नहर-सड़क, भवन, बाँध आदि में मजबूती न होने से पुन-पुन निर्माण कार्य होते रहते हैं और पुन-पुन लुटेरेवर्ग का घर भरता है। जनता विपन्न से विपन्नतर और समाज के ऊपर के वर्ग समृद्ध से समृद्धतर होते चले जा रहे हैं। महामति महावीरप्रसाद द्विवेदी का "सम्पत्तिशास्त्र" इसलिए आज भी आखे खोलने वाला है क्योंकि उस युग के शासनवर्ग का अनुकरण ही देशी साहब तथा सेठ वर्ग कर रहा है।

द्विवेदीजी ने विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था का "सम्पत्तिशास्त्र" मे भडाफोड किया है। मार्च १९०८ की सरस्वती मे द्विवेदी जी ने "गुलामो का व्यापार" पर लिखा था क्योंकि वह जानते थे कि दुनिया को सभ्य बनाने का दावा करने वाले गोरे लोग दासो के व्यापारी थे। "पुराने जमाने मे यूनान के व्यापारी गुलामो का व्यापार करते थे, उनसे उत्पादन कराते थे। यूनानियो के बाद यही काम रोम के सौदागरो और भूस्वामियो ने किया। औद्योगिक क्राति से पूर्व योरुप और ब्रिटेन के व्यापारी उन्ही यूनानियो और रोमनो के चरण-चिन्हो पर चल रहे थे।"[1]

ईसाई धर्म को सभी धर्मों मे श्रेष्ठ मानने वाले विदेशियो की अमानवीय क्रूरता का लोमहर्षक वर्णन द्विवेदी जी ने "गुलामो का व्यापार" मे किया है। पुर्तगालियो ने तो अगोला देश मे हद कर दी थी। द्विवेदी जी ने लिखा है……"नए गुलाम बुरी तरह पीटे जाते हैं……कुछ लोग गुलामो के व्यापार की ही बदौलत अमीर हो गए हैं, उनके यहाँ गुलामो के गोदाम हैं……लडके की कीमत १५० रुपए, जवानो की ३०० रुपये और नौजवान लड़की की ३७५ रुपये पडते हैं।"

यह सर्वज्ञात है कि ईसाई धर्म पर गर्वकर्त्ता अग्रेजो ने भारत से "गिरमिटिया" मजदूरो को बलपूर्वक दूर सागर के द्वीपदेशो (मारीशस, सूर्यनाम आदि) मे भेजा और उनका जम कर शोषण किया। पादरी लोग दासत्व के इस घृणित रिवाज का समर्थन, बाइबिल के आधार पर करते थे……१८८३ मे स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद भी, सौ वर्ष तक गोरे अमरीकियो ने अमेरिका मे दासप्रथा कायम रखी।

द्विवेदी जी ने अग्रेजी साम्राज्यवाद द्वारा भारत मे जमींदारी प्रथा का प्रचलन उन्हे अपना अभिकर्त्ता (दलाल) बनाने, किसानो-मजदूरो का रक्त पीने, उन्हे दबाकर रखने, भूमि की मालगुजारी बढाते जाने, भारतीय विक्रययोग्य वस्तुओ के इग्लैण्ड में प्रवेश पर भारी टैक्स लगाने और अग्रेजी वस्त्र आदि सामान को शुल्कमुक्त रखने से भारतीय दस्तकारो की बर्बादी पर जमकर लिखा है जो आज भी पठनीय है। जो

१. "महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण", राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली १९७७, पृ० ३६।

अग्रेज स यता सिखाने वाले, देश मे नयी चेतना, नयी तकनीक, नया शासन, नयी न्याय पद्धति आदि लाने वाले माने जाते हैं उनकी पोल "सम्पत्ति शास्त्र" मे खुलती है । महावीरप्रसाद द्विवेदी अग्रेजी राज की भूमिका को बहुत अच्छी तरह समझते थे।

द्विवेदी जी ने हिन्दी नवजागरण के लिए एशिया के नवजागरण को ध्यान से समझा था। उन्होंने १९७१ की सरस्वती मे सिद्धेश्वर वर्मा का लेख "जापानी साहित्य" पर छापा। १९०५ मे रूस पर जापान की जीत पर लिखवाया। उनका विचार था कि हमे जापानियो से सीखना चाहिए। जापान मे जातिवाद नही था। वहाँ के हजारो छात्र विदेश मे पढने जाते हैं। उनमे उत्कृष्ट देशभक्ति और कार्यनिष्ठा होती है। सरस्वती मे छपे लेख मे कहा गया है— "जापान ने विज्ञान को अपने देश मे प्रधानता दी है" (वही, ५१)। द्विवेदी जी जानते थे कि भारत मे लोगो पर अभी भी जितना प्रभाव धर्म या विश्वास का है, उतना विज्ञान का नही, अत वह जापान की विज्ञानप्रियता को उसकी उन्नति का मूल मानते हैं।

जापान के सिवा, सरस्वती मे द्विवेदी जी ने 'चीन के अखबार' (१९०९), 'चीन की जागृति', चीन मे सामाजिक परिवर्तन (१९१५) लेख छापे और स्वय १९१८ मे "चीन और भारत के सामाजिक जीवन मे साम्य" पर आलेख लिखा। १९०९ मे काशीप्रसाद जायसवाल के द्वारा चीनी भाषा सीखने पर प्रशसात्मक टिप्पणी लिखी जैसे वह व्यजना से यह सन्देश दे रहे हो कि मात्र अग्रेजी से काम नही चलेगा, अन्य भाषाएँ सीखो, विशेष-कर अपनी महाद्वीप की भाषाएँ। उन्होंने १९११ मे 'लकाद्वीप' १९१८ मे 'तिब्बत', १९०८ मे रूस, आदि पर लेख प्रकाशित कराए, ताकि हिन्दी के पाठको की जानकारी तथा जागरूकता बढे।

द्विवेदी जी ने प्रथम विश्वयुद्ध की तैयारियो का विरोध किया था। १९१५ मे उन्होंने टिप्पणी लिखी और लडने वाली फौज का खर्च जोडा। कहा कि दोनो पक्षो के ८० लाख से अधिक लोग लड रहे हैं। अगर कलकत्ते से कुरुक्षेत्र को १० लाख सेना ले जाना हो, तो ५ लाख २८ हजार घोडे दरकार होगे। एक घोडा कम-से-कम १२ सेर घास और दाना रोज खाता है। इस हिसाब से कोई ६२ लाख सेर घास और दाना प्रतिदिन खर्च होगा। (वही, पृ० ६५)

द्विवेदी जी बडे धैर्य से, विश्वयुद्ध मे सैनिको के वेतन, वस्त्र, माल की ढुलाई, बरबादी आदि का हिसाब लगाते हैं और युद्ध को जन-विरोधी सिद्ध करते हैं। कहते हैं कि अकेले इग्लैंड का १९१५ ई० तक ५ अरब और ४० करोड रुपया खर्च हो चुका है। "अभी तक (१९१६) इसमे लाखो आदमी प्राण खो चुके और अरबों रुपये स्वाहा हो गए।" (वही, पृ० ६६)

द्विवेदी जी ने जाना था कि विश्व साम्राज्यवाद को सोवियत रूस ने झटका दिया था। उन्होंने 'रूस का राष्ट्र विप्लव' पर लेख लिखवाया था—

"प्रत्येक ग्राम में एक सोवियत (पंचायत) सभा स्थापित की गई। उस सभा में प्रत्येक मनुष्य को प्रतिनिधि चुनकर भेजने का अधिकार दिया गया परन्तु दूसरों की मेहनत पर लाभ उठाने वाले, ब्याज पर निर्वाह करने वाले, और राजघराने के मनुष्य इस मत देने के अधिकार से वंचित किए गए.. ...।"

सरस्वती में द्विवेदी जी ने बोल्शेविक क्रांतिकारियों के पक्ष में लेख छापे जबकि योरोपीय अखबार सोवियत रूस के विरुद्ध विषवमन कर रहे थे, प्रवाद फैला रहे थे। हिंदी नवजागरण की शक्ति यह थी कि हिंदी के पत्रकारों ने सोवियत रूस की क्रांति का समर्थन किया क्योंकि वह गरीबों के पक्ष में अमीरों के विरुद्ध हुई थी। 'सरस्वती', 'मर्यादा', 'सुधा', 'प्रताप' और 'हँस' आदि हिन्दी पत्रिकाओं में क्रांति के प्रति पक्षधर दृष्टिकोण व्यक्त हुआ। सर्वाधिक क्रांतिसमर्थन श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में हुआ जिसे पढ़कर आज सुखद आश्चर्य होता है कि हमारे हिंदी नवजागरण का रुख कितना प्रगतिशील, प्रबुद्ध और इन्कलाबी था।

द्विवेदी जी ने शायद क्रांति से प्रेरित होकर किसान-मजदूरों के संगठन पर बल दिया। 'सम्पत्तिशास्त्र' में उन्होंने रेलवे, तारघरों, डाककर्मचारियों, रेलवे ड्राइवरों-गार्डों की हड़तालों का समर्थन किया था।

डा० रामविलास शर्मा के अनुसार द्विवेदी जी कल्पित मनोराज्यपरक समाजवाद [युटोपियन सोशलिज्म] से परिचित थे (वही, पृ० ८२)। मिल की पुस्तक 'लिबर्टी' का अनुवाद हिन्दी में कराया था और उसमें समाजवाद के स्वप्नदर्शी सेंट साइमन की चर्चा आई है—

"समाज के जुदा-जुदा पेशा करने वाले लोगों को अपनी पूँजी एकत्र करके संयुक्त श्रम करना चाहिए और उससे जो मुनाफा हो, उसे बाँट लेना चाहिए।"

१९०७ में 'सम्पत्तिशास्त्र' की रचना हुई थी। १९२६ में द्विवेदी जी ने किसान संगठन पर लिखा था, क्रांतिकारी संगठन पर रामप्रसाद बिस्मिल ने। द्विवेदी जी, प्रत्यक्षत. अंग्रेजों के विरुद्ध नहीं लिख सकते थे किंतु ऐसी विचारधारा का पक्ष ले रहे थे जिससे साम्राज्यवाद की जड़ कटे। अत. हिंदी नवजागरण का लक्षण है, साम्राज्यवाद विरोधी चेतना का प्रचार-प्रसार। छायावाद में विशेषकर निराला में यही प्रवृत्ति थी यानी छायावाद में द्विवेदी युग के नवजागरण का ही नैरन्तर्य है। छायावाद द्विवेदी युग की भस्म पर नहीं, उसकी नींव पर खड़ा हुआ था। वह मूलत स्वच्छन्दता का आन्दोलन था। राजनीति, मानव सम्बन्ध अथवा नर-नारी प्रेम आदि सर्वत्र छायावादी लेखक स्वतन्त्रता चाहते

थे। इस स्वतन्त्रता का सिलसिला भारतेन्दु युग से शुरु हुआ, द्विवेदी युग मे यह बढा और स्वच्छन्दतावाद या छायावाद मे यह चरम सीमा पर पहुँचा।

छायावादी या स्वच्छन्दतावादी कालावधि १६२० से १६३६ में द्विवेदीयुगीन सुधारवादी जनवाद का एक प्रवाह प्रेमचन्द के कथा साहित्य मे फूटा था। इस तरह प्रेमचन्द तथा निराला के यथार्थवाद और छायावादियो की स्वच्छन्तावाद की जड़े द्विवेदी युग मे धँसी हुई थी, यही से वे बढी, फली-फूली।

यह सत्य है कि स्वच्छन्तावादी कविता मे इतिवृत्तता तथा उपदेशो-सुधारात्मक प्रेरणाओ की स्थूलता के विरुद्ध मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता आई थी, यह भी सत्य है कि छायावाद मे द्विवेदीयुगीन मर्यादावाद के विरुद्ध प्रेम सम्बन्धो की स्वच्छन्दता की माँग हुई, उसके आकर्षणो और सौन्दर्य के मनमोहक वर्णन हुए, द्विवेदीयुगीन रुक्षता और नसीहत पसन्दगी की जगह मनुष्य की मनोदशाओ और प्रकृति के रमणीय दृश्यो को लाक्षणिक मूर्तविधान द्वारा मनोहर बनाया गया और इसीलिए साहित्य मे युग बदला। छायावाद इस दृष्टि से यकीनन द्विवेदीयुगीन रुक्षता के विरुद्ध स्निग्धता की प्रतिक्रिया थी, इसीलिए द्विवेदीयुगीन कविता आज सपाटबयानी सी लगती है अथवा उसमे परिष्कृत काव्यभाषा नही प्रतीत होती। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, आदि इसीलिए छायावादियो के सम्मुख पुराने लगने लगे तथापि गद्य के क्षेत्र मे जहा विचारो और जीवन की वास्तविकताओं को वर्ण्य विषय बनाया जाता है, वहाँ द्विवेदीयुगीन नवजागरण और छायावादी चेतना मे अन्तर नही प्रतीत होता। प्रेमचन्द के उपन्यासो- कहानियो, निराला के चतुरी चमार, 'बिल्लेसुर बकरिहा' जयशकर प्रसाद के उपन्यास (ककाल), महादेवी के रेखाचित्र, माखनलाल चतुर्वेदी के निबन्धो-टिप्पणी और कई कविताओ मे द्विवेदीयुगीन नवजागरण की ही मूल चेतना व्यक्त हुई है।

यह जो कही-कही लिखा गया है कि छायावाद मे रीतिकालीन शृगारिकता ही है, वह इसलिए गलत है क्योकि द्विवेदी युग मे नारी की महत्ता की स्थापना की गई थी। द्विवेदी जी के 'उर्मिलाविषयक उदासीनता' निबन्ध तथा मैथिलीशरण गुप्त तथा हरिऔध आदि ने उर्मिला, सीता, कैकेयी और राधा को मानवीय गरिमा से अभिमडित किया था। नारी को प्रेम सम्बन्धो मे स्वतन्त्रता देने का समर्थन करते हुए तथा नर-नारी के परस्पर आकर्षणों को, गीतात्मक या लिरीकल मनोदशा मे अतिशय महत्व देते हुए भी, छायावाद मे नारी को भोग की दृष्टि से नही देखा गया। 'जूही की कली' (निराला) को सयोग शृगार की स्फुटता के कारण महामति महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' मे नही छापा था परन्तु सयोग की स्पष्टता के बावजूद 'जूही की कली' मे एक तल्लीनता है और प्रकृति के प्रति मुग्ध अनुरागी दृष्टि है। निराला के गीतो मे भी मानव-प्रेम की निविडता और मुग्धता है, कही प्रेमपात्र को मात्र वासना मे प्रयुक्त करने का भाव नही है और जयशकर प्रसाद मे तो कामायनी मे नारी को नर की मुक्ति या मोक्ष या उदात्तीकरण

का कारण माना गया है और कामवासना को मगल से मडित श्रेय कहा गया है क्योकि सर्ग-इच्छा-सृष्टि उसका प्रयोजन होता है । महादेवी और पन्त जी मे भी नारी-नर के मध्य आसक्ति और गुरुत्वाकर्षण उच्च-स्तरीय है बल्कि महादेवी मे तो सयोग की इच्छा का विरोध है, "चलते-चलते मिट जाऊँ, पाऊँ न पथ की सीमा' वाला मनोभाव है जो रीति-काल मे अलभ्य है ।

साराश यह है कि छायावादी सृजन मे नारी को जो उदात्तता और गरिमा मिली है, उसके मूल मे द्विवेदीयुगीन नारी के प्रति आदर-सम्भ्रम और महिमा मडन है । छायावादी, द्विवेदीयुगीन कसावट या मर्यादावाद के विरुद्ध थे परन्तु प्रेम मे उन्होने नारी की मर्यादा की रक्षा की ।

परन्तु एक अर्थ मे छायावादी, द्विवेदी जी पिछडे हुए थे । द्विवेदी जी, देश और समाज की समस्याओ को अध्यात्मवाद से अधिक महत्व देते थे । उन्होने ईश्वरवाद–आत्मवाद आदि के प्रसग मे पर्याप्त विवेकवादी (रैशनलिस्ट) रुख अपनाया था । जबकि छायावाद पर रहस्यवाद का प्रभाव बहुत अधिक था । अध्यात्मवादी धारणाओ पर प्रश्नचिन्ह लगाकर द्विवेदी जी ने वैज्ञानिक चेतना पर बल दिया था यो वह सुसगत भौतिकवादी नही थे । डा० रामविलास शर्मा ने विस्तार से द्विवेदी जी की वैचारिकता और विवेक विज्ञानशीलता पर प्रकाश डाला है । द्विवेदी जी ने बालकृष्ण भट्ट की वैज्ञानिक बुद्धिवाद को ही अग्रसारित किया था–

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर महावीरप्रसाद द्विवेदी तक, हिन्दी के जागरण के नवसूत्रधार पुराने चखे करघे वाले भारत का स्वप्न नही देखते, वे देश के आधुनिक उद्योग-धन्धो के विकास के पक्षपाती है······यह नवजागरण अतीत के प्रति भावुकता, पुनरुत्थानवाद और रहस्यवाद की दृष्टि नही अपनाता । इसीलिए, हिन्दी मे अद्वैतवाद, उपनिषदो और रवीन्द्रनाथ के रहस्यवाद की चर्चा १९२० से पहले कम होती है । हिन्दी जागरण मूलत. बुद्धिवाद और रहस्यवाद विरोधी है । (डा० शर्मा, पृ० १८०)

महामति महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भारतीय भाषाओ का पक्ष लेकर देश पर विदेशी भाषा के आरोपण का विरोध किया । उन्होने जनपदीय भाषाओ (बैसवाड़ी, ब्रज, बुदेली आदि) को हिन्दी के मूल्य पर समर्थन नही दिया और न उर्दू को हिन्दी से पृथक भाषा माना । उसके अरबी-फारसी से लदे रूप की जगह उन्होने हिन्दी को ही जनभाषा माना और उसी के विकास के लिए काम किया । उन्होने हिंदी मे नए लेखको को लिखना सिखाया, हिन्दी भाषा का विशुद्ध व्याकरणिक और प्रतिमानीकृत रूप सुनिश्चित किया, निरन्तर साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध अलख जगाई और समाज-सुधार के लिए भारतीयो को चेताया । उन्होने पत्र-पत्रिकाओ-पुस्तको के द्वारा एक विशाल पाठकवर्ग तैयार किया और वह लेखको के लिए शिक्षक, बन्धु, परामर्शक, गुरु, विचारक

सभी कुछ बन गए। शास्ता भी इतने कि उनके परामर्श को अधिकतर लेखकगण मानते थे। साहित्य, भाषा, ज्ञान-विज्ञान, अतीत-वर्तमान और भविष्य को लेकर प्रत्येक वाद-विवाद की वह धुरी भी थे, धुरन्धर भी।

द्विवेदी जी की साहित्य-समीक्षा को भी उक्त हिन्दी नवजागरण के संदर्भ मे ही समझा जाना चाहिए। उन्होने खड़ी बोली मे कविता की वकालत की, कवि तैयार किए, स्वयं भी कवितात्मक लेखन किया। नए छन्दो (वर्णों) के प्रयोग की माग की। रीतिकालीन रूढ़ियो और रसिकता को उखाड़कर उन्होंने नए-नए सामाजिक, प्राकृतिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक विषयो पर लिखना सिखाया। उन्होने दृढता से एक झटके मे रीतिकालीनता को साहित्य से निकाल बाहर कर दिशा और लोक साहित्य, समाज और देश की स्वाधीनता आदि को साहित्य के केन्द्र मे जमा दिया। उनके बिना हिन्दी भाषा, हिन्दी जाति या हिंदी प्रदेश को चेतना सम्पन्न नही किया जा सकता था। वह हिन्दीभाषाभाषी जनता के दार्शनिक, मित्र और बन्धु ही नही, शास्ता या हिंदीपरिवारहितैषी तानाशाह भी थे। अत उनके प्रति हिन्दी जाति, हिंदी भाषा के पाठको-लेखको मे भयमिश्रित आदर था, जैसा पिता के प्रति होता है।

महामति पडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, इस प्रकार हिंदी नवजागरण के सूत्रधार और कर्णधार थे। उनके व्यक्तित्व का मर्म इस तथ्य मे निहित है कि वह १८५७ की क्राति मे भाग लेने वाले श्री रामसहाय दुबे के पुत्र थे जिन्होने लायलपुर (पजाब) मे अंग्रेजो के विरुद्ध बदूक उठा ली थी।

मुझे लगता है कि महामति महावीरप्रसाद द्विवेदी के भीतर उसी सशस्त्र क्रातिकारी का रूप उन्हे साम्राज्यवादियो और सामाजिक विकृतियो तथा अत्याचारो के विरुद्ध सघर्ष मे लडाकूपन देता रहा है। उनके पिताश्री ने हथियार उठाया, पुत्र ने शब्दास्त्र और किसी सुषुप्त, अर्ध-सुषुप्त देश-प्रदेश मे शब्दास्त्र जनजाड्य को काट डालता है, अधेरे भगा देता है। सरस्वती वदना मे कहा गया है, "या कुन्देन्दु-तुषारहार धवला · निशेष जाड्यापहा।" यह पूर्णत द्विवेदीजी की शक्तिस्वरूपा, 'सरस्वती' पत्रिका पर लागू होता है। 'सरस्वती' ने भारतीयो की निशेष अशेष जडता के तमस को नष्ट करने मे अचूक भूमिका अदा की। अत महामति महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम मे जो 'महावीर' शब्द है और पत्रिका का जो 'सरस्वती' नाम है, वह सार्थक है। वह हिन्दी नवजागरण के पोषक, प्रहरी और पक्षधर थे।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि

—डा० सन्तराम वैश्य
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय

आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी साहित्य मे विशिष्ट स्थान है। वे हिन्दी के युगप्रवर्तक साहित्यकार माने जाते हैं। उन्होने अपने युग का नेतृत्व कर, हिन्दी साहित्य को एक नयी दिशा प्रदान की। द्विवेदी जी की ख्याति कुशल सम्पादक, कवि, निबन्धकार, आलोचक तथा भाषा-सुधारक के रूप मे रही है। उन्होने सन् १९०३ से लेकर सन् १९२० तक बडी निष्ठा और लगन के साथ 'सरस्वती' का सम्पादन किया। सरस्वती के सम्पादक के रूप मे द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा और साहित्य के उत्थान के लिए जो कार्य किया, वह चिरस्मरणीय रहेगा। उन्होने स्वय तो साहित्य-सर्जना की ही, साथ ही अपने सम-सामयिक रचनाकारो को भी साहित्य-सर्जना के लिए प्रेरित किया। उनके प्रोत्साहन और मार्गदर्शन के परिणामस्वरूप कवियों और लेखको की एक पीढी का निर्माण हुआ। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादक के आसन पर बैठकर खडी बोली का परिष्कार किया तथा उसे स्थिरता प्रदान की। उनके इस योगदान को भुलाया नही जा सकता।

द्विवेदी जी ने कविताएँ भी लिखी। सस्कृत ग्रथो के पद्यमय अनुवाद भी किये। पर इस कार्य मे उनकी रुचि न थी। अत इससे विरत हो गये। जैसा कि उन्होने स्वय स्वीकार किया है—"अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबन्दी का आयास किया था। पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का अनधिकारी समझा। अतएव उस मार्ग से जाना ही प्राय बन्द कर दिया।"[1]

द्विवेदी जी को गद्य लेखन के क्षेत्र मे विशेष सफलता मिली है। उनका गद्य-साहित्य दो रूपो मे मिलता है—१ निबन्ध के रूप मे, २. आलोचना के रूप मे।

द्विवेदी जी के पहले यद्यपि हिन्दी मे बहुत से निबन्ध लिखे गए थे, पर उनकी उचित प्रतिष्ठा न हो पायी थी। द्विवेदी जी ने पहली बार निबन्ध विधा को हिन्दी मे प्रतिष्ठित किया। सम्पादक तथा पत्रकार के रूप मे उन्होने सक्षिप्त, मनोरजक, सरल

१—रसज्ञ रजन—महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ०—२०

तथा ज्ञानवर्द्धक निबन्धो की परम्परा चलाकर निबन्ध को हिन्दी साहित्य का प्रमुख अग बना दिया। उनके निबन्धो की भाषा शैली ही उस युग के निबन्धकारो की भाषा-शैली बनी।

आचार्य द्विवेदी ने सम्पादक और पत्रकार के रूप मे जहाँ एक ओर निबन्धो का सृजन किया, वही दूसरी ओर आलोचनाएँ भी लिखी। निबन्धो की तरह उनका आलोचना साहित्य भी बहुत समृद्ध है। उन्होने भारतेन्दुयुगीन हिन्दी आलोचना को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। हिन्दी आलोचना का सूत्रपात हम भारतेन्दु युग से भले ही मान ले, पर उसका विधिवत् विकास द्विवेदी युग मे ही आकर हुआ।

भारतेन्दुयुगीन हिन्दी आलोचना, पुस्तक-समीक्षा या दोष-दर्शन तक ही सीमित थी। विविध पत्र-पत्रिकाओ मे 'पुस्तक समीक्षा' के अन्तर्गत सामान्यत पुस्तको का परिचयात्मक विज्ञापन ही प्रशसा या निंदा के वाक्यो के साथ रहा करता था। इस युग मे गम्भीर आलोचनाएँ प्राय कम ही लिखी गयी। भारतेन्दुकृत 'नाटक' इसका अपवाद है। यह हिन्दी मे सैद्धातिक समालोचना का पहला प्रयास है जिसमे भारतीय एव पाश्चात्य नाट्य-सिद्धातो का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त प० बदरी नारायण चौधरी उपाध्याय 'प्रेमधन' तथा प० बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' मे कुछ गम्भीर आलोचनाएँ लिखी। भारतेन्दु युग मे तीन अन्य प्रकार की आलोचनाओ का अस्तित्व भी स्वीकार किया जा सकता है—१ रीतिकालीन लक्षण ग्रथो की परम्परा मे लिखित सैद्धातिक आलोचनाएँ, २. ब्रजभाषा एव खडी बोली गद्य मे लिखी टीका-पद्धति की आलोचनाएँ ३ इतिहासग्रन्थो मे कवि परिचय के रूप मे लिखी आलोचनाएं।

द्विवेदी जी को हिन्दी आलोचना की यही परम्परा विरासत मे मिली थी। उनकी आरम्भिक आलोचनात्मक कृतियो मे इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' तथा 'हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना' मे द्विवेदी जी ने दोष-दर्शन पर ही बल दिया है। पर शीघ्र ही उन्हे यह बोध हो गया कि यह तो आलोचना का सर्वथा एकाकी दृष्टिकोण है। आलोचना मे गुण-दोष दोनो का विवेचन होना चाहिए। इसी लक्ष्य को ध्यान मे रखकर उन्होने सस्कृतग्रन्थो की आलोचना की। इस आलोचना के पीछे उनका उद्देश्य यह था कि एक तो जनसामान्य का इन ग्रन्थो से परिचय हो जाय और दूसरे इनके गुण-दोष भी पढने वाले को विदित हो जायँ। जैसा कि द्विवेदी जी ने स्वय स्वीकार किया है—'सस्कृतग्रन्थो की समालोचना हिन्दी मे होने से यह लाभ है कि समालोचित ग्रन्थो का साराश और उनके गुण-दोष पढने वाले को विदित हो जाते हैं।"[1] पुस्तक-समीक्षा के सदर्भ मे भी द्विवेदी जी का यही मत था कि—"पुस्तक के गुण-दोष उसे (लेखक को) मालूम हो जायँ।"[2] पर भारतेन्दुयुगीन समीक्षको के

१—विक्रमाकदेव चरित चर्चा, पृ० १-२

२—वाग्विलास, पृ० २६८

गुण-दोष विवेचन और द्विवेदी जी के गुण-दोष विवेचन मे विषय, प्रतिपादन के ढङ्ग तथा दृष्टिकोण की नवीनता के कारण पर्याप्त अन्तर है। समालोचक का कर्त्तव्य बताते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है- "किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढङ्ग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं तो उसने पुरानी ही बात को नये ढङ्ग से लिखा है या नहीं—यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्ही बातो पर विचार करना चाहिए।"[1]

यदि भारतेन्दु युग पुनर्जागरण का काल था तो द्विवेदी युग जागरण-सुधार का। इस युग के रचनाकारो ने अपनी परम्परा के प्रति श्रद्धा रखते हुए वर्तमान की चुनौतियो को स्वीकार किया। उन्नीसवी शताब्दी का अंत होते-होते हवा बदलने लगी थी। भक्ति एवं शृंगारपूर्ण रचनाओ का स्वाद फीका पड़ने लगा था। समस्यापूर्तियो एवं नीरस तुकबन्दियो से लोग ऊबने लगे थे। ब्रजभाषा का आकर्षण भी निःशेष हो गया था। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण की भावना बलवती हो उठी थी। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों का विस्तार हो रहा था। पश्चिम से हमारा सम्पर्क बढ़ रहा था। इस परिवर्तन से हमारे नैतिक मूल्य भी बदलने लगे। इस परिवर्तन ने साहित्य को भी प्रभावित किया। लोगो की रुचि बदली तो काव्य के विषय भी बदले। न जाने कितने छोटे-छोटे, नगण्य और काव्य क्षेत्र के लिए अपरिचित प्रसग काव्य के रूप मे गृहीत हुए। आलोचना इस अभीष्ट परिवर्तन को लाने का उपकरण बनी। यही कारण है कि उस युग के सर्जनात्मक साहित्य पर आलोचना का वर्चस्व है।

द्विवेदी युग भारतीय तथा पाश्चात्य विचारधाराओ के सम्मिलन का भी युग था। इस युग मे पश्चिमी साहित्य एवं आलोचना के सिद्धान्तो से हिन्दी के साहित्यकारो व आलोचको का परिचय हुआ। विदेशी भाषाओ की साहित्यिक एवं आलोचनात्मक कृतियो के अनुवाद भी हिन्दी मे प्रकाशित किये गए। सन् १८९७ ई० मे जगन्नाथ दास रत्नाकर ने पोप के 'एस्से ऑन क्रिटिसिज्म' का 'समालोचनादर्श' नाम से अनुवाद किया था। सन् १९०५ मे आचार्य शुक्ल ने एडिसन के 'एस्से ऑन इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से अनुवाद किया। स्वयं द्विवेदी जी ने हर्बर्ट स्पेंसर के 'एजूकेशन', जान स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' तथा बेकन के निबन्धो का अनुवाद प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त बगला, मराठी तथा उर्दू आदि भारतीय भाषाओ की आलोचनात्मक कृतियो का भी लोगो ने गम्भीरता से अध्ययन किया। इन सबका द्विवेदीयुगीन हिन्दी आलोचना पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। स्वयं द्विवेदी जी ने अपने काव्यसिद्धात—प्रतिपादक के कुछ निबन्धो मे कहीं अंगरेज लेखकों का आधार लिया है। द्विवेदीयुगीन हिन्दी आलोचना पर अठारहवीं शताब्दी के नव्यशास्त्रवादी आलोचको— लेग्जेंडर पोप एव डा० जान्सन का विशेष प्रभाव है। इन आलोचको ने ऐसे साहित्यसृजन को श्रेष्ठ माना है जिसमे

१–विचार विमर्श, पृ० ६५

बुद्धि और कल्पना के मेल से आनन्द और सत्य का समन्वय किया गया हो। "प्राचीनता के प्रति श्रद्धापरक, आदर्शवादी' लोकशिक्षणमूलक साहित्य सम्बन्धी यह विभावन द्विवेदी युग के आलोचको को अपनी रुचि के अनुकूल लगा।"[1] स्वय द्विवेदी जी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है। उनका कथन है कि—"समालोचक को न्यायाधीश की भांति निष्पक्ष और निर्भय होना पड़ता है। सच्चे समालोचक को बड़े-बड़े कवि, विज्ञानवेत्ता, इतिहासलेखक और वक्ताओ की कृतियो पर फैसला सुनाने का अधिकार होता है। ढग सभ्यतापूर्ण और युक्तिसगत होना चाहिए। पाडित्यसूचक आलोचना भूलो के प्रदर्शन तक ही रह जाती है। प्रमुख बात तो आलोचक की वस्तूपस्थापन शैली, मनोरजकता, नवीनता, उपयोगिता आदि है। जिसके कार्य या ग्रन्थ की समालोचना करनी है उसके विषय मे समालोचक के हृदय मे अत्यन्त सहानुभूति का होना बहुत आवश्यक है। लेखक, कवि या ग्रन्थकार के हृदय मे घुसकर समालोचक को उसके हर एक परदे का पता लगाना चाहिए। अमुक उक्ति लिखते समय कवि के हृदय की क्या अवस्था थी, उसका आशय क्या था, किस भाव को प्रधानता देने के लिए उसने वह उक्ति कही थी—यह जब तक समालोचक को नही मालूम होगा तब तक वह उस उक्ति की आलोचना कभी न कर सकेगा।"[2]

द्विवेदी जी ने भारतीय और पश्चिमी साहित्य-सिद्धातो के मेल से बनी नयी साहित्य-चेतना को हिन्दी मे विकसित करने का प्रयास किया। इस हेतु उन्होने 'कवि-कर्त्तव्य', 'कवि और कविता', 'कवि शिक्षा', 'नाट्यशास्त्र', 'नाटक' तथा 'उपन्यास' आदि आलोचनात्मक निबन्ध लिखे।

द्विवेदी जी ने आलोचक का बाना युगनिर्माण के महान कार्य के लिए धारण किया। उनकी दृष्टि रुचि परिष्कार और भाषासुधार पर ही केंद्रित थी। वस्तुत यही उनके युग की माँग भी थी। अपनी आलोचनाओ द्वारा उन्होने कवियो और लेखको का पथ-प्रदर्शन किया।

द्विवेदी जी ने किसी ठोस आलोचनात्मक ग्रन्थ का सृजन नही किया। उनकी आलोचनाएँ सरल पुस्तिकाओ और निबन्धो के रूप मे ही हैं। उन्होने आलोचना का आरम्भ अनूदित ग्रन्थो से किया। सन् १८९६ ई० के आरम्भ मे द्विवेदी जी की 'कुमारसभव भाषा' की समालोचना प्रकाशित हुई। नवम्बर १८९७ ई० से मई १८९८ ई० तक वेंकटेश्वर समाचार मे उनकी 'ऋतुसहार भाषा' की समालोचना छपी। सन् १९०१ ई० मे द्विवेदी जी की पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' प्रकाशित हुई। उसमे 'मेघदूत' और 'रघुवश' की समालोचनाओ को भी जोड दिया गया। लाला सीताराम बी० ए० ने कालिदास के इन महत्वपूर्ण ग्रन्थों का हिन्दी मे अनुवाद किया था। इन अनुवादो ने महाकवि कालिदास के काव्यसौन्दर्य को नष्ट कर दिया

१—हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, नवम भाग, पृ०—१४६
२—कालिदास और उनकी कविता, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पृ०—११२

था। अनुवादो की भाषा भी अपरिष्कृत और भ्रष्ट थी। द्विवेदी जी ने इन अनुवादों की निकृष्टता और कालिदास के ग्रन्थो की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए ही ये आलोचनाएँ लिखी। इस प्रकार उन्होने जनता को पथभ्रष्ट होने से बचाया।

सन् १८९९ ई० मे द्विवेदी जी ने 'हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग' की समालोचना लिखी। इसमे उन्होने पुस्तक का दोषदर्शन ही किया है। इसकी आलोचना बडी सहारात्मक है। वस्तुत ऐसा उन्होने हिन्दी पाठको और लेखको के कल्याण के लिए ही किया है। उनका कथन है—"हम जानते हैं कि किसी कृति मे दोष दिखलाना बुरा है। परन्तु जिससे सर्वसाधारण को हानि पहुँचती हो, ऐसे दोषो को प्रकाश करके उनको दूर करने की चेष्टा करना बुरा नही है। इस प्रकार का दोषाविष्कारण यदि लाभदायक न होता तो हमारी न्यायशीला गवर्नमेण्ट पुस्तको और राजकीय कार्यों की समालोचना की अपराधो की तालिका मे गणना करके उसके लिए भी पेनल कोड मे दड निर्धारित करती। फिर जिस लेखक के दोष दिखलाए जाते हैं, वह यदि शान्तचित्त होकर विचार करे तो समालोचना से उसका भी लाभ ही होता है, हानि नही होती। ऐसे अनेक लोग हैं जो अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपनी योग्यता का पूरा-पूरा विचार किए बिना ही पुस्तकें लिखकर ग्रन्थकार बनने का गर्व हाँकते हैं। अपने दोष अपने ही नेत्रो से उनको नही दीख पडते। उन्ही को क्या मनुष्यमात्र को अपने दोष प्राय नही दिखाई देते। अतएव उनके दोष उनको दिखलाने के लिए दूसरे ही की अपेक्षा होती है।"[1]

द्विवेदी जी ने श्रीहर्ष और बिल्हण आदि सस्कृत कवियो को लेकर कुछ परिचयात्मक समीक्षाएँ निकाली। इस प्रकार की समीक्षाओ मे 'नैषधचरित चर्चा' और 'विक्रमाकदेवचरित चर्चा' मुख्य हैं। 'नैषधचरित चर्चा' सन् १९०० ई० मे लिखी गयी और 'विक्रमाकचरित चर्चा' सन् १९०७ ई० मे। डा० उदयभानु सिंह के शब्दो मे—"इन आलोचनाओ मे द्विवेदी जी ने सस्कृतसाहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने और पश्चिमीय विद्वानो के अनुसधान द्वारा प्राप्त सस्कृतसम्बन्धी बातो से हिन्दी-ससार को परिचित कराने का प्रयास किया है।"[2]

द्विवेदी जी की तीसरी आलोचनात्मक कृति 'कालिदास की निरकुशता' है। यह सन् १९११ ई० मे पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इसमे भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किये गए हैं जिन्हे सस्कृत के विद्वान लोग कालिदास की कविता मे बताया करते हैं। द्विवेदी जी के ही शब्दो मे इस आलोचना का उद्देश्य केवल वाग्विलास या मनोरजन-मात्र था।

द्विवेदी जी ने सन् १९०१ ई० से लेकर सन् १९१७ ई० के बीच जो समीक्षात्मक निबन्ध लिखे, उनका सग्रह सन् १९२८ ई० मे 'आलोचनांजलि' नाम से प्रकाशित हुआ।

१—हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना, पृ० २
२—महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा० उदयभानु सिंह, पृ०-१३८, प्रथम आवृत्ति

इस संग्रह के निबन्ध भिन्न-भिन्न आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर किये गए थे। इन निबन्धो की अपनी अलग विशेषता है।

द्विवेदी जी के समय तक कालिदास पर हिन्दी मे कोई पुस्तक नही लिखी गयी थी। फलत उन्होने 'कालिदास और उनकी कविता' लिखी। यह पुस्तक सन् १९२० ई० मे प्रकाशित हुई। यह द्विवेदी जी के उन निबन्धो का संग्रह है जो उन्होने सन् १९११-१२ ई० के आस-पास लिखे थे। 'कालिदास और उनकी कविता' द्विवेदी जी की ठोस आलोचनात्मक कृतियों मे से एक है। डा० उदयभानु सिंह के अनुसार-"इसमे उन्होने अनेक प्राच्य और पश्चिमात्य विद्वानो के मतो का उल्लेख, उनकी परीक्षा और अपने मत की युक्ति-युक्त स्थापना की है।"[1] यह द्विवेदी जी के गहन अध्ययन और गम्भीर चिन्तन का परिणाम है।

'आलोचना समुच्चय', 'विचार विमर्श' और 'रसज्ञ रजन' द्विवेदी जी की अन्य समालोचनात्मक कृतियाँ हैं। वस्तुत. ये स्वतन्त्र पुस्तके न होकर समालोचनात्मक लेखो के संग्रह हैं।

'समालोचना समुच्चय' का प्रकाशन सन् १९२८ ई० मे हुआ। इसमे सामयिक पुस्तको की समीक्षा के रूप मे लिखे गए निबन्ध सकलित हैं। इस सकलन के अन्तिम निबन्ध 'हिन्दी नवरत्न' मे द्विवेदी जी की पुस्तक-समीक्षा पद्धति के सुन्दर दर्शन होते हैं।

'विचार विमर्श' का प्रकाशन सन् १९३१ ई० मे हुआ। यह 'सरस्वती' मे प्रकाशित द्विवेदी जी के लेखो और टिप्पणियो का संग्रह है। इस संग्रह के मात्र कुछ ही लेख आलोचनात्मक हैं।

'रसज्ञ रजन' द्विवेदी जी की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति है। इसका प्रकाशन सन् १९२० ई० मे हुआ। यह 'सरस्वती' मे प्रकाशित द्विवेदी जी के साहित्यिक लेखो का संग्रह है। 'कवि-कर्त्तव्य', 'कवि और कविता', 'कविता', 'हँस सदेश', 'हँस का दुस्तर दूत कार्य' तथा 'कवियो की उर्मिलाविषयक उदासीनता' आदि इसके प्रमुख साहित्यिक निबन्ध हैं। इन निबन्धो मे आलोचना और मनोरजकता का सुन्दर समन्वय मिलता है। द्विवेदी जी को इन निबन्धो के कारण पर्याप्त ख्याति मिली।

संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य मे आलोचना की विभिन्न पद्धतियाँ दिखाई देती हैं। द्विवेदी जी ने अपनी आलोचनाओ मे इन्ही पद्धतियो का अनुसरण किया है। सुविधा की दृष्टि से इन्हें निम्नलिखित वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है—

१—आचार्य पद्धति या सिद्धातमूलक
२—शास्त्रार्थ पद्धति

१—वही, पृ०—१३६

३–जीवन-वृत्तान्तीय
४–तुलनात्मक पद्धति
५–पुस्तक-समीक्षा
६–खंडन-पद्धति
७–नीचन पद्धति
८–भाषा सम्बन्धी आलोचना

द्विवेदी जी ने सस्कृत आचार्यों के लक्षणग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। अत उन्होने सस्कृत की आचार्य-पद्धति पर 'रसज्ञ रंजन' और 'नाट्यशास्त्र' की आलोचनाएँ लिखी। 'कविता', 'कवि और कविता', 'नायिका भेद', 'कवि बनने के सापेक्ष साधन', 'आधुनिक कविता', 'बोलचाल की हिन्दी मे कविता' तथा 'कवियो की उर्मिला-विषयक उदासीनता' आदि लेखो मे स्थान-स्थान पर उनका आचार्यरूप देखा जा सकता है। पर द्विवेदी जी की आचार्य-पद्धति की आलोचनाएँ सस्कृत की आचार्य-पद्धति की आलोचनाओ से भिन्न है। अपनी इन आलोचनाओ मे सिद्धातो का निरूपण करते हुए द्विवेदी जी की दृष्टि उपयोगिता और नैतिकतावादी पक्ष पर रही है। उन्होने युगीन परिस्थितियो और आवश्यकताओ को दृष्टि मे रखकर आलोचनाएँ की। अपनी इन आलोचनाओ मे उन्होने पाश्चात्य समीक्षा प्रणालियो का भी अनुगमन किया है। द्विवेदी जी की सिद्धातमूलक आलोचनाओ की एक विशेषता यह भी है कि उन्होने स्वय को किसी वाद से नही जोडा। वे न तो रसवादी थे, न अलकारवादी, न रीतिवादी, न वक्रोक्तिवादी, न ध्वनिवादी, न चमत्कारवादी और न ही अन्त.समीक्षावादी। उनकी आलोचनाओ मे सभी वादो का सार समन्वित है।

सस्कृत आचार्यों ने पूर्ववर्ती आलोचको के मत का खडन और अपने विचारो का मडन करने के लिए शास्त्रार्थ-पद्धति की आलोचना को जन्म दिया। इस प्रकार की आलोचना मे विपक्ष के दोषो और अपने पक्ष के गुणो को ही देखने की चेष्टा की जाती थी। सस्कृत आलोचना की इस पद्धति का प्रभाव द्विवेदी जी पर भी पडा है। 'नैषध चरित चर्चा और सुदर्शन', 'भद्दी कविता', 'भाषा और व्याकरण', 'कलिदास की निरकुशता पर विद्वानो की सम्मतियाँ' तथा 'प्राचीन कवियो के काव्यो मे दोषोद्भावना' आदि आलोचनाएँ शास्त्रार्थ-पद्धति पर की गई हैं। द्विवेदी जी ने अपनी इन आलोचनाओ मे स्वपक्ष का मडन करते हुए जिन तर्कों को प्रस्तुत किया है, वे अकाट्य हैं। पर कही-कही उनके तर्कों की कठोरता और आक्षेपो की तीव्रता असह्य हो उठती है।

द्विवेदी युग मे शास्त्रार्थ पद्धति की आलोचना का बहुत जोर रहा। 'बिहारी और देव' तथा 'देव और बिहारी' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

द्विवेदी जी ने जीवन-वृत्तान्तीय आलोचना-पद्धति का आंशिक अनुगमन किया है।

कालिदास की आलोचना करते हुए उन्होंने उनका जीवन-वृत्त भी प्रस्तुत किया है। द्विवेदी जी ने कालिदास को विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य का दरबारी कवि माना है। इस संदर्भ में उन्हें जो प्रतिकूल मान्यताएँ मिलीं, उनका खंडन किया है। पर इस प्रकार की आलोचनाओं में उनकी मौलिक अनुसंधान-प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते।

हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक समीक्षा को प्रतिष्ठापित करने का श्रेय प० पद्म सिंह शर्मा को है। उन्होंने बिहारी सतसई का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। मिश्र-बन्धुओं ने भी 'हिन्दी नवरत्न' में कुछ मोटी-मोटी बातों को लेकर तुलसी और शेक्सपियर की तुलना की थी। द्विवेदी जी ने भी 'सरस्वती' में प्रकाशित 'कालिदास की विद्वत्ता' नामक अपने लेख में कालिदास और शेक्सपियर को लेकर तुलनात्मक संभावनाओं पर बल दिया। अपने इसी लेख में उन्होंने कालिदास की तुलना भवभूति से की।

'सरस्वती' का सम्पादन करते हुए द्विवेदी जी ने अनेक पुस्तकों की समीक्षा लिखी। इनमें मिश्रबन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्न' की समीक्षा, शिवप्रसाद गुप्त की पुस्तक 'पृथिवी प्रदक्षिणा' की समीक्षा तथा श्री सूर्यनारायण दीक्षित की पुस्तक 'अकबर के राजत्व-काल में हिन्दी' की समीक्षा प्रमुख हैं। 'हिन्दी नवरत्न' की समीक्षा तो उस युग की श्रेष्ठ समीक्षाओं में से एक मानी जाती है। द्विवेदी जी की प्रौढ़ पुस्तक समीक्षाएँ 'समालोचना समुच्चय' में संकलित हैं। इन समीक्षाओं में उनकी निष्पक्ष समीक्षादृष्टि का परिचय मिलता है।

संस्कृत-साहित्य में खंडन-पद्धति की आलोचना का भी प्रचलन रहा है। इसके दो रूप मिलते हैं। एक तो वह जिसमें आलोचक, आलोच्य की मान्यताओं या सिद्धांतों का खंडन करता है। इसमें उसका उद्देश्य वास्तविक ज्ञान का प्रचार करना होता है। दूसरे प्रकार की आलोचना में आलोचक अपने पांडित्य और आलोच्य की अज्ञता का प्रदर्शन करता है। द्विवेदी जी ने अपनी कुछ आलोचनाओं में संस्कृत की खण्डन-पद्धति का भी सहारा लिया है। पर इनमें उनकी दृष्टि दोषदर्शन और अभावों की ओर संकेत करने की ही रही है। इन आलोचनाओं का उद्देश्य था अभावों की आलोचना द्वारा उनकी पूर्ति के लिए साहित्यकारों को प्रेरित करना। उनका 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' नामक समालोचनात्मक लेख ऐसा ही है जिसने गुप्त जी को 'साकेत' लिखने की प्रेरणा दी। 'हिन्दी नवरत्न' आदि निबन्धों में भी कहीं-कहीं आलोचना की इस पद्धति के दर्शन होते हैं। द्विवेदी जी ने दोषमूलक आलोचनाएँ हिन्दी का परिष्कार करने के लिए लिखी हैं। उनकी इस प्रकार की आलोचनाओं में 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', 'हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना', 'कालिदास की निरंकुशता', 'नायिका भेद', 'हे कविते', 'ग्रन्थकार लक्षण', 'भाषा-पद्य व्याकरण' आदि मुख्य है। द्विवेदी जी की इन आलोचनाओं के संदर्भ में डा० उदयभानु सिंह का मत है—"द्विवेदी-कृत खंडनात्मक आलोचनाओं का कारण किसी प्रकार का ईर्ष्या-द्वेष नहीं है। हिन्दी

का सच्चा उपासक उसके मन्दिर मे किसी भी प्रकार का व्यभिचार नही देख सका है। इसीलिए उसमे कटुता आ गयी है किन्तु वह सार्वत्रिक न होकर यथास्थान है।"[1]

द्विवेदी जी ने संस्कृत की लोचन-पद्धति पर भी कुछ आलोचनाएँ लिखी हैं। वस्तुत उनकी इस प्रकार की आलोचनाओ को व्यवहारिक आलोचना के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। इनमे 'नैषधचरित चर्चा', 'विक्रमाकदेव चरित चर्चा', 'कालिदास की कविता' तथा 'मेघदूत रहस्य', 'रघुवश' और 'किरातार्जुनीय' की भूमिकाएँ मुख्य हैं। अपनी इन आलोचनाओ मे द्विवेदी जी ने सौन्दर्यपरक दृष्टि से विचार किया है। पर कही-कही ऐतिहासिक, जीवनीपरक तथा तुलनात्मक दृष्टि भी मिलती है।

द्विवेदी जी ने अपने आलोचक जीवन का आरम्भ भाषासम्बन्धी त्रुटियो की कठोर आलोचना द्वारा किया। वे भाषा की शुद्धता पर विशेष ध्यान देते थे। व्याकरण-विरुद्ध लेखन उन्हे किसी भी प्रकार सह्य न था। इसे वे लेखक की सबसे बडी कमजोरी मानते थे। यही कारण है कि उन्होने अपनी अधिकाश आलोचनाओ मे भाषा सम्बन्धी अशुद्धियो का उल्लेख किया है। उनकी 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' तथा 'हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग' की समालोचना मे भाषा सम्बन्धी अशुद्धियो की ही समीक्षा की गयी है। द्विवेदी जी ने अपनी आलोचनाओ के द्वारा हिन्दी भाषा का सस्कार किया। उनके भाषा-सस्कार के महत्त्व को स्वीकार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बडे-बडे कवियो को लेकर गम्भीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नही प्रस्तुत किया, पर नयी निकली पुस्तको की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बडा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खडे होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरणविरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारो ओर दिखायी पडती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमे भाषा की समझ और योग्यता थी, उन्होने अपना सुधार किया।"[2]

द्विवेदी जी को अपनी इस प्रकार की आलोचनाओ के कारण अनेक आलोचना-समर भी झेलने पडे। उनकी आलोचनाओ के विरुद्ध प्रत्यालोचना के रूप मे अनेक लेख लिखे गए। स्वय उनकी भाषासम्बन्धी भूलो और विसगतियो की चर्चा की गयी। पर द्विवेदी जी इससे विचलित न हुए। उन्होने अपने विरोधियो को मुँहतोड उत्तर दिया। इससे उनका आलोचक-रूप और अधिक निखर उठा। साथ ही उनके भाषा-सस्कार सम्बन्धी कार्य को बल मिला।

द्विवेदी जी ने आलोचना की जो दृष्टि विकसित की वह कई मामलो मे उनके

१—महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डा॰ उदयभानु सिंह, पृ॰ १३१

२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ॰ ५२८

समकालीन आलोचकों से भिन्न थी। उनके समकालीन प्रमुख आलोचक थे—बाबू बालमुकुन्द गुप्त, मिश्रबन्धु, प० पद्मसिंह शर्मा, प० गोविन्दनारायण मिश्र, प० माधवप्रसाद मिश्र, लाला भगवानदीन तथा प० कृष्णबिहारी मिश्र, आदि। द्विवेदी जी को छोड़कर इन सभी आलोचकों की मानसिकता पर रीतिकाल की गहरी छाप थी। ये परम्परावादी आलोचक थे और अतिशयोक्ति, अलकार और रमणीयता को ही काव्य का बड़ा गुण मानते थे। प्राचीन कवियों पर इनकी बड़ी श्रद्धा थी। ये उनकी किसी भी प्रकार की आलोचना सहन नहीं कर पाते थे। जबकि द्विवेदी जी की आलोचनादृष्टि युग सापेक्ष थी। वे साहित्य को जाति और स्वदेश की उन्नति का साधन मानते थे। उनका मत था कि—"साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो, हृदय मे एक प्रकार की सजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जायें और आत्मगौरव की उद्भावना हो।"[1] उनकी आलोचनाओ मे भी उनकी यही दृष्टि विद्यमान है। द्विवेदी जी की आलोचना-दृष्टि अपने समकालीनो से अधिक स्पष्ट, व्यापक तथा युगानुकूल है। उनकी आलोचनाओ मे उनका युग बोलता है। वस्तुत युगनिर्माण के लिए ही द्विवेदी जी आलोचक बने थे। उनका उद्देश्य आलोचना के क्षेत्र मे फँसे हुए किसी मत-मतान्तर का खण्डन करना नहीं था। अपनी आलोचनाओ के द्वारा वे लेखकों को सुधार कर साहित्य-रचना के आदर्श मार्ग पर लाना चाहते थे। उन्हें अपने इस कार्य मे निश्चित ही आशातीत सफलता मिली है। उनसे प्रेरणा लेकर न जाने कितने लोग साहित्यकार हो गए। मैथिलीशरण गुप्त, कामताप्रसाद गुरु, रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास जैसे साहित्यकारो ने द्विवेदी जी को आचार्य माना और उनसे अपनी रचनाओ के सशोधन की प्रार्थना की। गगानाथ झा, गोपालशरण सिंह, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, लक्ष्मीधर वाजपेयी, लक्ष्मणनारायण गर्दे, बाबूराव विष्णु पराडकर आदि ने उन्हें अपना गुरु स्वीकार किया। इस प्रकार बहुतों को द्विवेदी जी की साहित्य साधना का प्रसाद मिला। सरस्वती के इस वरद पुत्र का हिन्दी जगत् हमेशा ऋणी रहेगा।

1—उद्धृत—महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा० उदयभानु सिंह, पृ० १२१

निकष पर

(पुस्तक-समीक्षा)

पुस्तक का नाम	—तपती पगडंडियों पर पद-यात्रा
लेखक	- डा० कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर
प्रकाशक	- भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ
मूल्य	— १०० रुपये, पृष्ठ २३१

पण्डित कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर हिन्दी मे रेखाचित्र और सस्मरणलेखन के क्षेत्र मे बेजोड शैलीकार हैं। श्री रामवृक्ष बेनीपुरी स्वय उनकी कलम के प्रशसक थे। भावो की उदात्तता, ऊर्ध्वलक्षी जीवनचिन्तन, आधुनिक युगबोध और मानवीय सवेदनाओं से ओतप्रोत उनका लेखन स्वस्थ जीवन की दिशा दिखाता है, सचेतन विचारक को प्रेरित करता है, वर्तमान की सतह पर भविष्य की आँखें खोलता है तथा सघर्ष से जूझते हारे-थके व्यक्ति को अन्तस्फूर्ति प्रदान करता है। मिश्र जी के दो दर्जन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमे प्रमुख हैं—जिंदगी मुस्कराई, बाजे पायलिया के घुघरू, माटी हो गई सोना, क्षण बोले कण मुसकाये, दीप जले शख बजे। 'तपती पगडडियो पर पद-यात्रा' उनकी ताजी प्रकाशित आत्मकथा है। इसमे जहाँ एक ओर स्वाधीनता आन्दोलन के परिपार्श्व मे गाँधी जी के सिपाही के रूप मे सघर्षरत अविचल खडे स्वातत्र्य चेता लेखक और पत्रकार श्री प्रभाकर की अदम्य जीवनेच्छा का उद्घाटन है तो दूसरी ओर पश्चिमी उत्तर प्रदेश की उन शक्तियो की पावन झाकी है जहाँ सामान्य जन से लेकर उच्चवर्ग तक के लोग अपनी-अपनी समझ और सामर्थ्य के अनुसार ब्रिटिश शासन के बहिष्कार के लिए मर मिट रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक प्रभाकर जी की सस्मरणात्मक आत्मसघर्ष गाथा है। सस्मरण, रेखाचित्र और नाटकीय विस्मय द्वारा घटनाओ की जीवतता से सृष्ट चरित्र-चित्रण की मोहकता ने इस पुस्तक को रोचकता प्रदान की है। तपती पगडडियो पर चलकर भी पाठक का हृदय-कुसुम लू के थपेडो से झुलसता नही है, उसे प्रभाकर जी की आत्मीयतापूर्ण लेखनी की फुहार रससिक्त करते हुए चलती रहती है। हिन्दी मे आत्मकथा का लेखन कई दिशाओं मे हुआ। साहित्यकारो और पत्रकारो द्वारा लिखी गई कथा-शृंखला मे प्रस्तुत कृति ने एक नया आयाम जोड़ा है। इसमें भरपूर साहित्यिक गुण हैं

और है एक अदम्य जिजीविषा की दीप्ति। यह दीप्ति ओढ़ी हुई राष्ट्रीयता या सुनी हुई स्वातंत्र्य संघर्ष चेतना से नहीं प्रकट हुई। इसे पैदा करने में प्रभाकर जी स्वयं जले हैं और तिल-तिल जलकर उन्होंने पत्रकारिता के अनुष्ठान की गरिमा और पवित्रता को जीवित रखा है। वह सच्चे गाँधीवादी विचारक हैं और उनका लेखन विचारों के विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होने वाले हर खुले मन के जिज्ञासु के लिए प्रशस्त मार्ग की सम्भावनाएँ खोलने वाला है।

गाँधी जी से उनकी प्रथम भेंट गुरुकुल में हुई थी। इस घटना का प्रकाशित विवरण हिन्दी का प्रथम रिपोर्ताज कहा जाता है। प्रभाकर जी ने स्वयं लिखा है—'१९२७ में मैंने गुरुकुल कांगड़ी के रजत जयंती महोत्सव में पहली बार गाँधी जी का सान्निध्य प्राप्त किया। यह भी एक चुटकुला ही है। मैंने उस स्थान के कई चक्कर काटे, जहाँ गाँधी जी ठहरे थे, पर वहाँ के पहरेदारों ने गाँधी जी के दर्शन दूर से भी मुझे नहीं करने दिए पर मेरे भीतर तो तूफान उठ रहा था। मैंने आधे कार्ड पर लिखा—"बापू, मैं बारह रुपये उधार लेकर आपसे मिलने देवबंद से आया पर आपके लोग मुझे मिलने नहीं देते। आप नहीं मिल सकते तो मुझे बारह रुपये तो दिला दीजिए, जिससे मैं अपना कर्ज उतार सकूं।" उसी दिन तीसरे पहर गाँधी जी का प्रवचन होना था। मैं उस द्वार के पास खड़ा हो गया जिससे गाँधी जी को मंच से लौटना था और ज्यों ही गाँधी जी ने द्वार लाँघा, मैंने तेजी से पहुँचकर वह आधा कार्ड उनके हाथ में थमा दिया। पढ़कर कहा-"कल प्रात साढ़े सात बजे आओ। मैं पहुँचा, बात मैं उनसे क्या करता, पूछा, बापू, क्या आन्दोलन के वे दिन अब कभी नहीं आयेंगे? उत्तर था—ईश्वरविश्वासी कभी निराश नहीं होते, पूछा—"अब तो बारह रुपये नहीं मांगोगे?" और हँसे। मैं कंगाल था, लखपति हो गया।"

ऐसे एक नहीं अनेक प्रेरक और रोचक प्रसंग प्रस्तुत कृति में गुम्फित हैं। अनेक हिन्दी साहित्यकारों, पत्रकारों, समाजसेवकों, राजनीतिज्ञों, स्वतंत्रता संग्राम के सैनिकों, कुटिल शासकों, टब्बू सुविधाभोगी चाटुकारों, सरकारी नौकरों, अहलकारों, विरल मार्मिक नारी चरित्रों तथा राष्ट्रप्रेमी व्यक्तियों के चित्र और चरित्रों का गहन गंभीर ब्यौरा इस कृति में मिलता है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश की राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन-गाथा का यह अक्षय कोष है। रोंगटे खड़े कर देने वाली ब्रिटिश शासकों की दमनपूर्ण घटनाओं का सजीव चित्रण जहाँ अन्तर्मन को हिला देता है वहाँ अपूर्व प्रेरणा भी प्रदान करता है। वसंत और पतझर के हर्ष-विषाद, कांटे और फूल तथा चंदन और धूल से भरे हुए गलियारों, सड़कों और राजपथों पर चलता हुआ पाठक सर्वत्र अपने आपको हर घटना और चरित्र से जुड़ा पाता है। मरण का शंख सुनकर भी राष्ट्रदेवता के मंदिर की समर्चना सतत और अखण्ड रूप से करने वाले स्वतंत्रता सेनानियों में प्रभाकर जी अग्रणी हैं। उनकी जीवनसंगिनी श्रीमती प्रभा उनके साथ रहीं। निस्संदेह प्रभाकर जी को प्रभाकर के रूप में भास्वर और गौरव की ऊर्जा से दीप्त बनाने में 'प्रभा' का योगदान भुलाया नहीं जा सकता। इस तथ्य को प्रभाकर जी ने इन शब्दों में

अंकित किया है—'मेरे निकट सत्य यह था—हम दोनों स्वेच्छा से जो कुछ कर रहे थे, वह तो पचाग्नि तप था, जिसमे आगे-पीछे, दायें-बायें और ऊपर सूर्य और जलते उपलो की आग होती है—दहकती हुई आग, पर जो साधक को घास-फूस की तरह जलाती नहीं, तपाकर स्वर्ण से कुदन बनाती है। आज मेरे सामने चलने के लिए जो साफ-सुथरी सड़क दिखायी दे रही है, वह इस तप से ही तो निर्मित हुई।'

प्रस्तुत कृति स्वतन्त्रता आन्दोलन और हिन्दी पत्रकारिता का दस्तावेज है। इतिहास है उन लोमहर्षक घटनाओ का जिसमे इन्द्र विद्यावाचस्पति, शिवपूजन सहाय तथा प्रभाकर जी को स्वतंत्र पत्रकारिता के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा टूटने के लिए मजबूर किया गया। क्रान्तिकारियो के चटकीले रगो से सराबोर यह रचना एक साँस मे पढ लेने को विवश कर देती है। आधुनिक अनास्था के सकट मे नई कलम को इस कृति से अभ्युदय की बलवती प्रेरणा मिलेगी, यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है। मैं हृदय से यह बात कहना चाहता हूँ कि मेरी चेतना के तारो को यह कृति कई दिनो तक झनझनाती रहेगी।

पुस्तक की छपाई सुरुचिपूर्ण और साजसज्जा आकर्षक है। हिन्दी जगत् इस कृति को, आशा है, एक घटना के रूप मे लेगा।

—डा० विष्णुदत्त राकेश

× × × ×

पुस्तक का नाम	- मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना के निकष पर सूर-काव्य [भागलपुर विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]
लेखक	—डा० विजयबहादुर सिंह
प्रकाशक	– वाराणसेय संस्कृत संस्थान सी० २७/६४, जगत गंज, वाराणसी २२१००२
मूल्य	—१०० रुपये
पृष्ठ	—३२४

सूर-साहित्य के विविध पक्षो पर शास्त्रीय दृष्टि से अब तक पर्याप्त अनुसंधान हो चुका है। स्वतन्त्र आलोचना तथा अनुसंधान के रूप मे शताधिक कृतियाँ प्रकाश मे आ चुकी हैं। इनमे से कुछ तो बहुत अच्छी हैं और कुछ औसत दर्जे की। कइयो मे तो पूर्व हुए कार्यों की पुनरावृत्ति ही देखने को मिलती है। इससे कई बार तो ऐसा लगने लगता है कि सूर-साहित्य

पर लिखने के लिए अब कुछ भी नही बचा है। पर डा० विजयबहादुर सिंह का यह प्रबन्ध 'मध्यकालीन सास्कृतिक चेतना के निकष पर सूर-काव्य' इस मा मता का खडन करता है। इस प्रबन्ध को देखने के पश्चात् यह महसूस होने लगा है कि सूर-साहित्य पर अनुसधान की अभी बहुत-सी सम्भावनाएँ शेष हैं। डा० सिंह ने अपने इस प्रबन्ध के द्वारा सूर-साहित्य के अध्येताओ का ध्यान इसी ओर आकृष्ट किया है।

सचमुच ही, सूर-काव्य का मूल्याकन नयी दृष्टियो से उतना नही हुआ है, जितना कि प्राचीन दृष्टि से। जैसा कि डा० सिंह का भी मानना है कि महान कलाकृति मे प्राय अपार अर्थसमृद्धि और गहराई होती है, जो समय के साथ अनावृत्त और अनुभूत तो होती ही है, पर सम्पूर्णतया किसी एक द्रष्टा द्वारा ग्रहण नही हो पाती। सूर की सौन्दर्य चेतना और सास्कृतिक चेतना को व्यापक परिदृश्य मे उतना नही देखा गया है जितना कि आवश्यकता थी।' प्रस्तुत प्रबध इसी आवश्यता की पूर्ति को ध्यान मे रखकर किया गया एक सफल प्रयास है।

किसी भी रचनाकार की सार्थकता इस बात मे निहित होती है कि वह अपने युग के प्रति कितना सवेदनशील है। युगीन समस्याओ से वह कितना प्रभावित होता है और साथ ही इन समस्याओ के निराकरण का उसके पास क्या उपाय है। सूरदास के ऊपर प्राय यह आरोप लगाया जाता है कि वे ऐकातिक भक्त थे। अपने युग की उथल-पुथल का उन पर कोई प्रभाव नही पडा। पर यह आरोप बिल्कुल निराधार है। सूरदास की दृष्टि बडी पैनी थी। चक्षुविहीन होते हुए भी उन्होने युगीन समस्याओ का गम्भीरता से अवलोकन किया—वे चाहे सास्कृतिक समस्याएँ रही हो, चाहे धार्मिक, सामाजिक राजनैतिक या आर्थिक। सूरदास ने अपने साहित्य मे इन सबका एक उचित समाधान प्रस्तुत किया है। उनका काव्य युगीन धार्मिक-सास्कृतिक चेतना का प्रामाणिक दस्तावेज है। डा० सिंह ने सूरकाव्य मे इसी चेतना की खोज-बीन की है। मध्यकालीन सास्कृतिक चेतना क निकष पर उन्हे सूर-साहित्य बिल्कुल खरा उतरता दिखायी देता है।

प्रस्तुत प्रबंध छह अध्यायो मे विभक्त है। प्रथम अध्याय है-'मध्यकालीन हिन्दी कविता और सूर'। इसमे लेखक ने इतिहास तथा हिन्दी साहित्येतिहास के परिप्रेक्ष्य मे मध्यकाल की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसकी प्रमुख प्रवृत्तियों, महाकवि सूर के उदय और उनकी उदयकालीन परिस्थितियो पर विधिवत् प्रकाश डाला है। वस्तुत सूरदास का उदय भारतीय साहित्येतिहास के मध्यकाल की एक ऐतिहासिक घटना है। उन्होंने अपने उदय के द्वारा न केवल हिन्दी साहित्य का श्रीवृद्धि की, अपितु साहित्य का दिशानिर्धारण भी किया। उन्होने कृष्णभक्ति की जो अजस्र रसधारा प्रवाहित की उसने भारतीय जनमानस को बहुत गहरे तक प्रभावित किया।

द्वितीय अध्याय का शीर्षक है-'सूर की सांस्कृतिक चेतना'। इसमे संस्कृति और

परम्परा, संस्कृति के विविध आयामों तथा सूर की सांस्कृतिक चेतना का विश्लेषण है। लेखक ने किन्हीं कारणोंवश इस अध्याय को संक्षिप्त कर दिया है, जबकि यह अध्याय और अधिक विश्लेषण की अपेक्षा रखता था।

तृतीय अध्याय है—'सूर की धार्मिक दृष्टि'। इसमें मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना के निकष पर सूर की धार्मिक दृष्टि का विवेचन किया गया है। इसी क्रम मे सूर की धार्मिक दृष्टि की प्रासगिकता पर भी विचार किया गया है। वस्तुत सूरदास ने तत्कालीन अप्रासगिक धार्मिक दुराग्रहो पर प्रहार करते हुए प्रासगिक सदर्भों की तलाश के क्रम मे ही सगुण-लीला का मधुर गान किया है। इस तरह उन्होंने जन-सामान्य को भक्ति का एक ऐसा सहज और सुगम मार्ग प्रदान किया जिसका अनुकरण कर वह अपने जीवन को सफल कर सकता था।

चतुर्थ अध्याय में सूर के सामाजिक परिवेश का आकलन प्रस्तुत किया गया है। इसमे सूरकालीन समाज-व्यवस्था की अच्छाइयो-बुराइयो को बडी गहराई के साथ चित्रित किया गया है। इस अध्याय मे लेखक ने इसका स्पष्ट विवेचन किया है कि किस प्रकार सूरकालीन समाज-व्यवस्था मे सामती-सस्कृति का उदय हो रहा था और ग्रामीण एव नगरीय सस्कृति के बीच परस्पर दूरी बढती जा रही थी। यदि यह कहा जाय कि नगरीय सस्कृति धीरे-धीरे ग्रामीण सस्कृति को निगलती जा रही थी, तो अतिशयोक्ति न होगी। ऐसे सांस्कृतिक सकटकाल मे सूर ने सजग रहकर भारतीय सस्कृति को नष्ट होने से बचाया। ब्रज-सस्कृति के माध्यम से उन्होंने इसी सस्कृति का अमर-गान किया।

पचम अध्याय का विषय है—'सूर-काव्य मे विषम आर्थिक जीवन'। यह तो सर्व-मान्य तथ्य है कि मुस्लिम शासको के आगमन से जिस नयी सस्कृति का उदय हुआ, उसने परम्परा से चली आ रही ग्रामीण व्यवस्था को भी प्रभावित किया। शासको और शासितो के बीच दूरी बढती गयी। सारा आर्थिक विकास नगरो तक ही सिमट कर रह गया। प्रशासन की अव्यवस्था का भार ग्रामो पर आ पड़ा। फलत ग्राम पिछड़ने लगे। उनकी आर्थिक स्थिति दयनीय होने लगी। तत्कालीन ग्रामीण दुर्व्यवस्था और दुर्दशा का अवलोकन करना हो तो विद्वानों को सूरकाव्य का सूक्ष्म निरीक्षण करना चाहिए। सूरकाव्य में ऐसे अनेक सश्लिष्ट चित्र मिल जाएँगे।

षष्ठ अध्याय मे 'सूरकाव्य की व्यापकता' का वर्णन है। इसमे सर्वप्रथम सूर-काव्य का सीमाकन प्रस्तुत करते हुए उसका प्रामाणिकता के सदर्भ का विवेचन किया गया है। इसी क्रम मे लेखक ने कवि की प्रकृति एव अभिरुचि के आधार पर सीमाकन की सभावनाओ पर भी विचार किया है। तत्पश्चात् सूरकाव्य में गृहीत विषय-संदर्भों—पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, साहित्यिक, राष्ट्रीय एव आंचलिक आदि का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

डा० सिंह का यह प्रबंध भागलपुर विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए लिखा गया है। मूल प्रबंध का शीर्षक था—'मध्यकालीन सांस्कृतिक चेतना के निकष पर सूर-काव्य (धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक संदर्भ)। पर पुस्तकाकार रूप देते समय डा० सिंह ने 'धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक संदर्भ' हटाकर इसका संक्षेपण कर दिया है, जबकि विवेचन के मूल में यह सर्वत्र विद्यमान है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रस्तुत प्रबन्ध सूर-साहित्य पर अब तक हुए कार्यों से बिल्कुल अलग है। डा० सिंह ने परम्परित शोध-प्रबंधों की पिटी-पिटाई लीक से हटकर कार्य करने का प्रयत्न किया है। उनके इस प्रयत्न की जितनी भी सराहना की जाय, वह कम है। सूर-साहित्य के अध्येताओं और अनुसंधित्सुओं को निश्चित ही इससे एक नयी दिशा मिलेगी।

इस अच्छे कार्य के लिए डा० सिंह बधाई के पात्र हैं।

—सन्तराम वैश्य
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
गु० कां० वि०, हरिद्वार

—o—